



मानव अधिकार पत्रिका

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग का
त्रैमासिक प्रकाशन

वर्ष 2013

अंक - चतुर्थ

संरक्षक

जस्टिस ए.के. सक्सेना
कार्यकारी अध्यक्ष

वीरेन्द्र मोहन कँवर

सदस्य

विनोद कुमार, सचिव
एच.के. दुबे, रजिस्ट्रार (लॉ)

प्रकाशक

कुलदीप जैन
उपसचिव

सम्पादक

रोहित मेहता
संयुक्त संचालक, जनसम्पर्क

सह सम्पादक

संजय कुमार विश्वकर्मा
शोध अधिकारी

सम्पर्क

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग
पर्यावास भवन, अरेरा हिल्स,
पुरानी जेल पहाड़ी मार्ग, भोपाल (म.प्र.)

फोन : 0755-2572034

फैक्स : 9755-2574028

E-mail : mphrc@sancharnet.in

Website : www.mphrc.nic.in

मानव अधिकार पत्रिका

प्रथम अंक

वर्ष : 2013



मानव अधिकार पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं,
यह जरूरी नहीं कि आयोग उनसे सहमत हो।



**पत्रिका में प्रकाशित आलेखों का पुर्नप्रकाशन आयोग
का संदर्भ देते हुए किया जा सकता है।**



इस बार...

अनुक्रमणिका

क्र. विषय	पृष्ठ क्रमांक
1. जागरुकता बढ़ाकर निकलेगा समाधान	5
2. आखिर क्या हैं स्त्री-अधिकारों के मायने?	7
3. संकट का सबब पग-पग बढ़ते बीहड़	9
4. महिलाओं को सबला बनाइए	12
5. पुलिस सुधार का एफ.आई.आर.	14
6. गुमशुदा बच्चों के प्रति असंवेदनशील क्यों?	17
7. स्त्री सुरक्षा और सम्मान : कुछ सुझाव	19
8. लापता बच्चों की माओं की पीड़ा हो जाती है स्थाई	22
9. विस्थापन के मर्ज से कराहते शहर	24
10. स्तरीय शिक्षा बिना अधूरी तस्वीर	26
11. पुलिस में महिलाओं की तादाद बढ़ाने की है आवश्यकता	28
12. अकेले कानून बनाने से बात नहीं बनेगी	30
13. 'जल-शिक्षित' होने की जरूरत	32
14. सबसे जरूरी है सोच बदलना	34
15. Ring out the rhetoric, ring in results	36



क्र.	विषय	पृष्ठ क्रमांक
16.	A woman-shaped gap in the Indian workforce	39
17.	Going from Zero FIRs to e-FIRs	42
18.	Two years without polio	45
19.	Development minus green shoots	48
20.	'Gender sensitivity is a matter of life and death... all of us are accountable'	51
21.	The rising menace of intolerance	53
22.	Small Children, Big Dreams	56
23.	Burying democracy in human waste	60
24.	Innovate against child deaths	63
25.	Pensions in the margins	65
26.	Gender justice, interrupted	67
27.	Age is not just a figure	70
28.	The past & present of Indian environmentalism	73
29.	Give back that forest, take back this city	77
30.	Reform police force	80
31.	Land Reforms & Duty Of State	82
32.	Legal Aid: An Over View	887



जागरुकता बढ़ाकर निकलेगा समाधान

● शशांक द्विवेदी

पानी का महत्व भारत के लिए कितना है यह हम इसी बात से जान सकते हैं कि हमारी भाषा में पानी के कितने अधिक मुहावरे हैं। अगर हम इसी कथित विकास के कारण अपने जल संसाधनों को नष्ट करते रहे तो वह दिन दूर नहीं, जब सारा उपयोग करने योग्य पानी हमारी आंखों के सामने से लुप्त हो जाएगा और हम कुछ नहीं कर पाएंगे। पानी के बारे में एक नहीं, कई चौंकाने वाले तथ्य हैं। विश्व में और विशेष रूप से भारत में पानी किस प्रकार नष्ट होता है इस विषय में जो तथ्य सामने आए हैं उस पर गंभीरता से ध्यान देकर हम पानी के अपव्यय को रोक सकते हैं।

देश में पानी की किल्लत को लेकर हालात इतने खराब हैं कि अगर हमने अभी भी पानी की बर्बादी नहीं रकी और इसे संरक्षित करने की दिशा में ठोस कदम नहीं उठाए तो वह दिन दूर नहीं जब देश के अंदर ही पानी को लेकर दंगे-फसाद और बड़े संघर्ष शुरू हो जाएंगे। वैसे भी देश के कई हिस्सों में पानी के पानी को लेकर छोटी लड़ाइयां और संघर्ष तो अभी भी चल रहे हैं लेकिन अगर इस स्थिति में सुधार नहीं किया गया तो ये चीजें बड़े संघर्ष में तब्दील हो जाएंगी। हम विकास की जिस बेहोशी में जी रहे हैं उसने आज हमारी जमीन को बंजर बना दिया, अधिकांश नदियों, तालाबों, झील, पोखरों का अस्तित्व मिट गया। गंगा, यमुना जैसी जीवनदायिनी नदियों को हम नालों में तब्दील करते जा रहे हैं। शहरों में कांक्रीट के जंगलों के बीच हम इतने बेसुध हो गए हैं कि हमें भविष्य के खतरे की आहट ही नहीं सुनाई पड़ रही है। वास्तव में जल ही जीवन का आधार है, इसके बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

धरातल पर तीन चौथाई पानी होने के बाद भी पीने योग्य पानी एक सीमित मात्रा में ही है। पानी की उस

सीमित मात्रा का इंसान ने अंधाधुंध दोहन किया है। नदी, तालाबों और झरनों को पहले हम कैमिकल्स की भेंट चढ़ा चुके हैं, जो बचा-खुचा है उसे अब हम अपनी अमानत समझ कर अंधाधुंध खर्च कर रहे हैं। जबकि भारतीय महिलाएं पीने के पानी के लिए रोज ही औसतन चार मील पैदल चलती हैं।

भारत में विश्व की लगभग 16 प्रतिशत आबादी निवास करती है। लेकिन, उसके लिए मात्र तीन प्रतिशत पानी ही उपलब्ध है। विकास के शुरुआती चरण में पानी का अधिकतर इस्तेमाल सिंचाई के लिए होता था। लेकिन समय के साथ स्थिति बदलती गई और पानी उपयोग के नए क्षेत्र-औद्योगिक व घरेलू महत्वपूर्ण होते गये। भारत में जल संबंधी मौजूदा समस्याओं से निपटने में वर्षाजल को भी एक सशक्त साधन समझा जाना चाहिए। पानी के गंभीर संकट को देखते हुए पानी की उत्पादकता बढ़ाने की जरूरत है। चूंकि पानी का 70 फीसद हिस्सा सिंचाई में खर्च होता है, इसलिए पानी की उत्पादकता बढ़ाने के लिए जरूरी है कि सिंचाई का कौशल बढ़ाया जाए। यानी कम पानी से अधिकाधिक सिंचाई की जाए। अभी होता यह है



कि बांधों से नहरों के माध्यम से पानी छोड़ा जाता है, जो किसानों के खेतों तक पहुंचता है। जल परियोजनाओं के आंकड़े बताते हैं कि छोड़ा गया पानी शत-प्रतिशत खेतों तक नहीं पहुंचता। कुछ पानी रास्ते में भाप बनकर उड़ जाता है कुछ जमीन में रिस जाता है और कुछ बर्बाद हो जाता है।

पानी का महत्व भारत के लिए कितना है यह हम इसी बात से जान सकते हैं कि हमारी भाषा में पानी के कितने अधिक मुहावरे हैं। अगर हम इसी कथित विकास के कारण अपने जल संसाधनों को नष्ट करते रहे तो वह दिन दूर नहीं, जब सारा उपयोग करने योग्य पानी हमारी आंखों के सामने से लुप्त हो जाएगा और हम कुछ नहीं कर पाएंगे। पानी के बारे में एक नहीं, कई चौंकाने वाले तथ्य हैं। विश्व में और विशेष रूप से भारत में पानी किस प्रकार नष्ट होता है इस विषय में जो तथ्य सामने आए हैं। उस पर गंभीरता से ध्यान देकर हम पानी के अपव्यय को रोक सकते हैं। अनेक तथ्य ऐसे हैं जो हमें आने वाले खतरे से तो सावधान करते ही हैं, दूसरों से प्रेरणा लेने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और पानी के महत्व व इसके अनजाने स्रोतों की जानकारी भी देते हैं। दिल्ली, मुंबई और चेन्नई जैसे महानगरों में पाइप लाइनों के वाल्व की खराबी के कारण रोज 17 से 44 प्रतिशत पानी बेकार बह जाता है। इजराइल में औसतन मात्र 10 सेंटीमीटर वर्षा होती है, इस वर्षा से वह इतना अनाज पैदा कर लेता है कि वह उसका निर्यात कर सकता है। दूसरी ओर भारत में औसतन 50 सेंटीमीटर से भी अधिक वर्षा होने के बावजूद कृषि कार्यों के लिए पानी की कमी बनी रहती है। ध्यान देने की बात यह है कि यदि ब्रश करते समय नल खुला रह गया है, तो पांच मिनट में करीब 25 से 30 लीटर पानी बरबाद होता है। लेकिन पानी की ऐसी बर्बादी करते वक्त ध्यान दिया जाना चाहिए कि विश्व में प्रति 10 व्यक्तियों में से दो व्यक्तियों को पीने का शुद्ध पानी नहीं मिल पाता है।

नदियां पानी का सबसे बड़ा स्रोत हैं। जहां एक ओर नदियों में बढ़ते प्रदूषण को रोकने के लिए विशेषज्ञ उपाय

खोज रहे हैं, वहीं कल-कारखानों से बहते हुए रसायन उन्हें भारी मात्रा में दूषित कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में जब तक कानूनी तौर पर सख्ती नहीं बरती जाती, अधिक से अधिक लोगों के समक्ष दूषित पानी पीने का समय आ सकता है। जल नीति के विश्लेषक सैंड्रा पोस्टल और एमी वाइकर्स ने पाया कि बर्बादी का एक बड़ा कारण यह है कि पानी बहुत सस्ता और आसानी से सुलभ है। कई देशों में सरकारी सब्सिडी के कारण पानी की कीमत बेहद कम है। इससे लोगों को लगता है कि पानी बहुतायत में उपलब्ध है, जबकि हकीकत इसके ठीक उलट है।

समय आ गया है जब हम वर्षा का पानी अधिक से अधिक बचाने की कोशिश करें। बारिश की एक-एक बूंद कीमती है। इन्हें सहेजना बहुत ही आवश्यक है। यदि अभी पानी नहीं सहेजा गया, तो संभव है पानी केवल हमारी आंखों में ही बच जाएगा। पहले कहा गया था कि हमारा देश वह देश है जिसकी गोद में हजारों नदियां खेलती थीं, आज वे नदियां हजारों में से केवल सैकड़ों में ही बची हैं। कहां गईं वे नदियां, कोई नहीं बता सकता। नदियों की बात जाने दें, हमारे गांव-मोहल्लों से आज तालाब भी गयाब हो गए हैं, इनके रख-रखाव और संरक्षण के विषय में बहुत कम कार्य किया गया है।

ऐसा नहीं है कि पानी की समस्या पर हम पार नहीं सकते। अगर सही ढंग से पानी का संरक्षण किया जाए और जितना हो सके पानी को बर्बाद करने से रोका जाए तो इस समस्या का समाधान बेहद आसान हो जाएगा। लेकिन इसके लिए जरूरत है जागरुकता की। एक ऐसी जागरुकता की जिसमें छोटे-छोटे बच्चे से लेकर बड़े-बूढ़े भी पानी को बचाना अपना धर्म समझें। प्रकृति के खजाने से हम जितना पानी लेते हैं, उसे वापस भी हमें ही लौटाना है। हम स्वयं पानी का निर्माण नहीं कर सकते, अतः प्राकृतिक संसाधनों को दूषित न होने दें और पानी को व्यर्थ न गंवाएं, यह प्रण लेना बहुत आवश्यक है।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





आखिर क्या हैं स्त्री-अधिकारों के मायने?

● मृदुला गर्ग

स्त्री के लिए मानवाधिकारों में सबसे निजी और महत्वपूर्ण अधिकार वे हैं, जो उसे अनेक प्रकार की हिंसा से अपना बचाव करने में सक्षम बनाते हैं। घरेलू हिंसा, बलात्कार, यौनिक अनाचार हिंसा के वे रूप हैं, जिनसे स्त्री विशेष रूप से पीड़ित होती है। स्त्री के मानवाधिकारों की बात करते हुए बलात्कार की समस्या से निपटने पर विशेष बल देना जरूरी है।

इसमें दो राय नहीं कि स्त्री विमर्श पश्चिम के रास्ते हमारे देश में आया है। वहां स्त्री विमर्श नारी-मुक्ति या नारीवादी आंदोलन के भीतर से उभरकर आया था। उसका सीधा संबंध मानव अधिकारों की मांग से था। उसी रूप में उसने हमारे देश में भी प्रवेश पाया है। जिस मानव अधिकार की मांग स्त्रियों ने सबसे पहले की थी, वह था वोट डालने यानी लोकतंत्र का नागरिक होने का अधिकार। उससे वंचित रखने के पीछे इसी तर्क का सहारा लिया गया था कि अनेक ऐसे काम हैं, जो स्त्री नहीं कर सकती। स्त्री के कमतर होने की धारणा कमोबेश अभी तक चली आ रही है। उसे निरस्त करने में पढ़ी-लिखी मध्यमवर्गीय महिलाएं कुछ हद तक सफल हुई हैं तो स्त्री विमर्श और आंदोलन के कारण। स्त्रियां आज उन कार्यक्षेत्रों में भी काम करने लगी हैं, जिन्हें असें तक उनके अनुपयुक्त माना जाता था। इसके बावजूद अनेक मानवाधिकारों से वे वंचित हैं।

मैं एक ऐसे पक्ष की ओर ध्यान दिलाना चाहती हूं जो समाजशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह है हमारे समाज में सदियों से व्याप्त यह धारणा कि परिवार में हर कल्याणकारी काम करने का जिम्मा पूरी तरह स्त्री (मां व पत्नी) का है। युद्ध, फसाद या अन्य किसी कारण से हुए विस्थापन के चलते जब अप्रत्याशित अभाव की स्थिति पैदा होती है, तब भी किसी भी तरह परिवार का भरण-

पोषण करने, अन्न-पानी आदि जुटाने का काम पूरी तरह स्त्री के जिम्मे रहता है। हर प्रकार का जुल्म सहकर, देह व्यापार करके, न्यूनतम से कम आय पर कमरतोड़ मेहनत करके वह इस गुरुभार का निर्वाह करती हैं। इसीलिए वह पुरुष से अधिक अन्याय, शोषण व पीड़ा सहती है।

स्त्री के लिए मानवाधिकारों में सबसे निजी और महत्वपूर्ण अधिकार वे हैं, जो उसे अनेक प्रकार की हिंसा से अपना बचाव करने में सक्षम बनाते हैं। घरेलू हिंसा, बलात्कार, यौनिक अनाचार हिंसा के वे रूप हैं, जिनसे स्त्री विशेष रूप से पीड़ित होती है। घरेलू हिंसा से निपटने में आड़े आने वाला तथ्य यह है कि पीड़िता उसे जगजाहिर करने से कतराती है।

मेरी राय में स्त्री के अधिकारों की बात करते हुए बलात्कार पर विशेष बल देना जरूरी है। त्रासदी यह है कि हमारा समाज और स्वयं स्त्री समुदाय भी बलात्कार को इज्जत लुटने का पर्याय मानता है। इज्जत जाना न मानकर इसे हिंसा माना जाए तो अन्य हिंसा के शिकार की तरह बलात्कार पीड़िता में आक्रोश या रोष होगा, पर अपराधबोध नहीं। बलात्कार स्त्री के स्त्री होने की अस्मिता का ही हनन नहीं करता, उसके मन में अपने भावात्मक व मानवीय संबंधों के बारे में संशय पैदा कर देता है। समस्या तब और जटिल हो जाती है जब समाज में परिवर्तन नजर न आए



कि कम से कम उसके तथाकथित प्रगतिशील सदस्य बलात्कार को हिंसा मानने को तैयार हों। स्त्री के मानवाधिकारों के हनन को हम तभी सही परिप्रेक्ष्य में रख पाएंगे और उसका समाधान खोज पाएंगे, जब हम बलात्कार को यौनेच्छा का पर्याय मानना छोड़ें और उसे व्यापक मानवीय संदर्भ में रखकर समझने की कोशिश करें।

दिल्ली गैंगरेप प्रकरण के बाद दिसंबर 2012 में युवाओं ने व्यापक विरोध प्रदर्शन किया। पर सवाल है कि



अधिकारों में एक महत्वपूर्ण अधिकार है - संपत्ति में हिस्सेदारी। आजादी के बाद कानूनी रूप से हमें यह अधिकार मिला जरूर, पर कई कमियों के साथ। हिंदुओं के अलावा अन्य धर्मों के सदस्यों पर वह लागू नहीं होता। हिंदू संयुक्त परिवार पर भी, जिसका कर्ता पुरुष होता है, यह लागू नहीं होता। पैतृक संपत्ति में ही नहीं, पति की संपत्ति में भी पत्नी के अधिकारों को हमारा कानून और समाज पर्याप्त महत्व व सुरक्षा नहीं देता।



क्या हम उम्मीद कर सकते हैं कि जस्टिस वर्मा कमेटी की रिपोर्ट के बावजूद आम स्त्रियों की सुरक्षा के संदर्भ में कानून, न्याय प्रणाली तथा पुलिस प्रबंधन में कोई सार्थक बदलाव आएगा? क्या पुलिस बलात्कार और यौनिक हिंसा के अपराध दर्ज करने में तत्परता दिखाएगी? क्या कानून का जल्द व संवेदनशील पालन होगा? स्त्री को नग्न करने, उसका पीछा करने, सामूहिक अवमानना कर बलात्कार के पूर्व पीठिका तैयार करने वाली हरकतों को यौनिक हिंसा व उत्पीड़न में शामिल करके जो नया कानून बनाने का विश्वास

दिलाया जा रहा है, क्या वाकई वह बनेगा और उसका पालन होगा?

अन्य अधिकारों में एक महत्वपूर्ण अधिकार है - संपत्ति में हिस्सेदारी। आजादी के बाद कानूनी रूप से हमें यह अधिकार मिला जरूर, पर कई कमियों के साथ। हिंदुओं के अलावा अन्य धर्मों के सदस्यों पर वह लागू नहीं होता। हिंदू संयुक्त परिवार पर भी, जिसका कर्ता पुरुष होता है, यह लागू नहीं होता। पैतृक संपत्ति में ही नहीं, पति की संपत्ति में भी पत्नी के अधिकारों को हमारा कानून और समाज पर्याप्त महत्व व सुरक्षा नहीं देता। घर बनाने में स्त्री की हिस्सेदारी रहती है। इसलिए तलाक के बाद संपत्ति में हिस्सेदारी का अधिकार भी उसे अवश्य प्राप्त होना चाहिए। अंत में गर्भपात के अधिकार को केंद्र में रखकर कुछ कहना चाहती हूँ। हमारे देश में कानून यह अधिकार हर स्त्री को देता है। इसके सही इस्तेमाल के लिए जरूरी है कि गर्भपात की निर्णायक शक्ति स्त्री स्वयं हो। पर स्वतंत्रता के अभाव में स्त्री उसका उपयोग नहीं कर पाती और परिवार के दबाव तले कन्या भ्रूणहत्या हो जाती है। कन्या भ्रूणहत्या रोग नहीं, लक्षण भर है। रोग है आम स्त्री की अशिक्षा और आर्थिक विपन्नता, जो समाज में व्याप्त विषमता के माहौल में उसे अपने निर्णय स्वयं लेने की छूट नहीं देती। आर्थिक, राजनीति, मानसिक रूप से सशक्त होने पर ही स्त्री निर्णायक शक्ति बन सकती है।

इसके अलावा स्त्री विमर्श के प्रवक्ता यह न भूलें कि गर्भपात की प्रक्रिया स्त्री के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है, इसलिए उसे परिवार नियोजन का माध्यम नहीं बनाया जाना चाहिए। यह भी एक ऐसा विषय है, जिस पर स्त्री विमर्श को अपनी तर्कसंगति अभी और परिपक्व करनी है। इन हालात में बस आशा ही की जा सकती है। कि निकट भविष्य में इन तमाम मानवाधिकारों को स्त्री विमर्श और कानून दोनों में जगह मिलेगी।

(साभार : नवदुनिया)

□ □ □



संकट का सबब पग-पग बढ़ते बीहड़

● पंकज चतुर्वेदी

धरती पर जब पेड़-पौधों की पकड़ कमजोर होती है और बरसात का पानी नंगी धरती पर सीधा पड़ता है तो मिट्टी बहने लगती है। जमीन समतल न होने के कारण पानी को जहां जगह मिलती है, वह मिट्टी को काटते हुए बहने लगता है। इस प्रक्रिया में नालियां बनती हैं जो आगे चल कर बीहड़ का रूप ले लेती हैं। समस्या यह है कि एक बार बीहड़ बन जाए तो हर बारिश में वह और गहरा होता चला जाता है। चंबल क्षेत्र में इस तरह के भूक्षरण के कारण हर साल लगभग चार लाख हेक्टेयर जमीन उजड़ रही है। चंबल, यमुना, साबरमती, माही और उनकी सहायक नदियों के किनारे उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान और गुजरात का इलाका इससे सर्वाधिक प्रभावित है।

चं | बल संभाग और मध्यप्रदेश के भिंड व मुरैना जिलों में 948 गांव ऐसे हैं जहां का सामाजिक व आर्थिक ताना-बाना जमीन में पड़ रही गहरी-गहरी दरारों के कारण पूरी तरह बिखर चुका है। यहां की जमीन का रिकॉर्ड रख पाना सरकार के वश में नहीं है, क्योंकि पता नहीं कौन सी सुबह किसका घर खेत या सड़क बीहड़ की भेंट चढ़ जाए। लगभग 16.14 लाख हेक्टेयर क्षेत्रफल वाले चंबल संभाग का कोई 20 प्रतिशत हिस्सा बीहड़ का रूप ले चुका है। लगभग ऐसा ही हाल बुंदेलखंड का भी है। बीहड़ केवल जमीन को नहीं खाते हैं, ये सामाजिक ताने-बाने, आर्थिक हालात और मानवीय संवेदनाओं को भी चट करते हैं। चिंतनीय पहलू यह है कि बीहड़ के कटाव यदि इसी गति से बढ़ते रहे तो मध्य भारत के कम से कम एक दर्जन जिलों में भुखमरी और बेरोजगारी का स्थाई बसेरा हो जाएगा।

धरती पर जब पेड़-पौधों की पकड़ कमजोर होती है

और बरसात का पानी नंगी धरती पर सीधा पड़ता है तो मिट्टी बहने लगती है। जमीन समतल न होने के कारण पानी को जहां जगह मिलती है, वह मिट्टी को काटते हुए बहने लगता है। इस प्रक्रिया में नालियां बनती हैं जो आगे चल कर बीहड़ का रूप ले लेती हैं। समस्या यह है कि एक बार बीहड़ बन जाए तो हर बारिश में वह और गहरा होता चला जाता है। चंबल क्षेत्र में इस तरह के भूक्षरण के कारण हर साल लगभग चार लाख हेक्टेयर जमीन उजड़ रही है। चंबल, यमुना, साबरमती, माही और उनकी सहायक नदियों के किनारे उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान और गुजरात का इलाका इससे सर्वाधिक प्रभावित है। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने 1971 में चेताया था कि देश में 30 लाख हेक्टेयर से अधिक जमीन बीहड़ में बदल चुकी है, जो कुल क्षेत्रफल का 1.12 प्रतिशत है। लेकिन सरकार बेपरवाह रही। देखा जाए तो सबसे विपन्न माने जाने वाले बुंदेलखंड और चंबल संभाग भूमि-बिखराव की सर्वाधिक कीमत चुका



रहे हैं।

बुंदेलखंड के समूचे पठारी इलाके में बड़ी नदियां तो गिनी-चुनी हैं, लेकिन उनकी सहायक नदियां व बरसाती नालों का जाल-सा बिछा है। दतिया, टीकमगढ़, छतरपुर और पन्ना जिले में चिकनी, काली और लाल हल्की मिट्टी



चंबल में बीहड़ों का विस्तार सामाजिक और आर्थिक संकटों की जननी बन गया है। इस कृषि-प्रधान क्षेत्र में जब जमीन का टोटा हो रहा है तो एक-एक इंच जमीन के पीछे गरदन-काट होना लाजिमी है। इस इलाके की डकैत समस्या के मूल में यही दिक्कत है। नक्शे पर लिखा है कि अमुक की जमीन की हद नदी से 10 मीटर दूर है। अब दो-तीन साल में नदी की हद ने जमीन काट कर बीहड़ बना दिए। जमीन का मालिक अब अपनी जमीन को दस मीटर आगे से नापता है तो दूसरे के मालिकाना हक की जमीन है।



पाई जाती है। दमोह व सागर जिलों की मिट्टी काली है। यह मिट्टी खेती के लिहाज से तो उपजाऊ है, लेकिन पानी की धार में बड़ी तेजी से बहती है। बुंदेलखंड, गंगा-यमुना जल-क्षेत्र के तहत आजी है। यहां की मुख्य नदियां हैं- बीना, नरेन, धसान, सुनारी, श्यामरी, ब्यारमा, जामनी, केन, पहुंज और काली सिंध। इनके साथ अनगिनत छोटी नदियां और नाले आ कर मिलते हैं। सरकारी रिकॉर्ड गवाह

है कि बुंदेलखंड के छह जिलों की लगभग 1.43 लाख हेक्टेयर जमीन बीहड़ में बदल चुकी है। यहां जमीन का कटाव 0.12 प्रतिशत प्रतिवर्ष है और यदि यही रफ्तार रही तो आने वाले 200 सालों में यहां खेत बचेंगे ही नहीं। यहां बीहड़ की सबसे गंभीर समस्या छतरपुर और दतिया जिले में है।

चंबल में बीहड़ों का विस्तार सामाजिक और आर्थिक संकटों की जननी बन गया है। इस कृषि-प्रधान क्षेत्र में जब जमीन का टोटा हो रहा है तो एक-एक इंच जमीन के पीछे गरदन-काट होना लाजिमी है। इस इलाके की डकैत समस्या के मूल में यही दिक्कत है। नक्शे पर लिखा है कि अमुक की जमीन की हद नदी से 10 मीटर दूर है। अब दो-तीन साल में नदी की हद ने जमीन काट कर बीहड़ बना दिए। जमीन का मालिक अब अपनी जमीन को दस मीटर आगे से नापता है तो दूसरे के मालिकाना हक की जमीन है। यहीं से विवाद शुरू होते हैं और फिर फरारी, डकैत बनते हैं। 20-25 फीट गहरे बीहड़ बागियों के लिए निरापद शरण-स्थली होते हैं। यहां बीहड़ में उदरस्थ हुई अधिकांश जमीन किसानों की है। उन्हें जमीनों का कोई विकल्प नहीं मिल रहा है। सरकारी कर्मचारियों के लिए जमीन का रिकॉर्ड रखना भी मुश्किल हो गया है बीहड़ परिवार के ताने-बाने पर भी संकट बना हुआ है। जमीन नहीं है, जमीन है तो पता नहीं कब बीहड़ के मुंह में समा जाए। बढ़ती बेरोजगारी, पेयजल का संकट, सड़क और मूलभूत सुविधाओं के अभाव के कारण बदनाम चंबल के गांवों में बाहरी लोग अपनी बेटीयों का ब्याह नहीं करते हैं। अकेले चंबल में बीहड़ कटाव रोकने के नाम पर अब तक अरबों खर्च किये जा चुके हैं लेकिन नतीजा बीहड़ों को और गहरा करता दिखता है।

कोई तीन दशक पहले बीहड़ों के समतलीकरण का कार्य कुछ जिलों में शुरू किया गया था। लेकिन बुलडोजरों के जरिए जमीन के उठाव को समतल करने का कार्य कुछ ही महीनों में सफेद हाथी साबित हुआ और इस तरह





कागजों पर बीहड़ों के मिटाने का तमाशा जल्दी ही बंद हो गया। सन् 1977-78 में मध्यप्रदेश सरकार ने बीहड़ सुधार की एक परियोजना केंद्र सरकार को भेजी थी, जो फाइलों के बीहड़ों में गुम हो गई। 1979 में कुछ काम चला पर प्रारंभिक चरण में ही ठप्प हो गया। 80 के दशक में बीहड़ों में घने जंगल उगाने की योजना बनी। दो जिलों में हवाई जहाज से बीज छिड़के गए। एकवारगी हरियाली भी दिखी, लेकिन जल्दी ही यह आफत में बदल गई क्योंकि छिड़के गए बीजों में कांटेदार विलायती बबूल के बीज मिल गए। ये झाड़ी बहुत तेजी से बढ़ती है और दूसरे पौधे को उगने नहीं देती है। स्थानीय प्रजातियों की वनस्पतियों की पैदावार इसके कारण लगभग बंद हो गई। फलस्वरूप कई पर्यावरणीय संकट खड़े हो गए। इस कारण मिट्टी गुणवत्ता तो प्रभावित हुई ही, मवेशियों के चारे की समस्या भी खड़ी हो गई कांटेदार पेड़ों के बढ़ने से लोगों का आना-जाना भी दूभर हो गया।

हालांकि नई सोच और स्थानीय लोगों की सक्रिय भागीदारी वाली दूरगामी योजनाओं के ठीक क्रियान्वयन के जरिए इस चुनौती का मुकाबला किया जा सकता है,

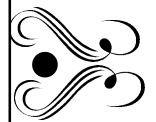
क्योंकि अब तक बीहड़ रोकने के जो भी प्रयोग और प्रयास हुए, वे भूमि कटाव रोकने व नमीकरण पर केंद्रित रहे हैं। जाहिर है ये जमीन के वैकल्पिक उपयोग की नीति पर केंद्रित रहे हैं। स्थानीय किसान क्योंकि न इससे सहमत रहे हैं न उनकी भागीदारी इसमें रही, सो ये योजनाएं सफल नहीं रहीं। चंबल में मेढ़बंदी जैसे प्रयोग शुरुआत में तो सफल रहते हैं, लेकिन मेढ़ के भीतर पानी भरने के साथ ही नई जगह से कटाव शुरु हो जाता है। चंबल में जमीन समतल करने के साथ-साथ जल संरक्षण और इस पानी का इस्तेमाल खेती के लिए करने हेतु आम लोगों की क्षमता का विकास करना होगा। इसके लिए जागरुकता और प्रशिक्षण दो महत्वपूर्ण कदम होंगे। अनुमान है कि प्रदेश में हर दिन औसतन 2.20 हेक्टेयर उपजाऊ जमीन बीहड़ में बदल रही है। यदि हालात पर गौर नहीं किया गया तो 2050 तक 52 हजार हेक्टेयर कृषि भूमि बीहड़ों में तब्दील हो जाएगी। यूं आज बीहड़ रोकने का काम जिस गति से हो रहा है, उसके अनुसार बंजर खत्म होने में करीब दो सौ वर्ष लगेंगे जबकि तब तक ये बीहड़ ढाई गुना अधिक बढ़ चुके होंगे।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



“History is a guide to navigation in perilous times. History is who we are and why we are the way we are.”

—David C. McCullough





महिलाओं को सबला बनाइए

● शीतला सिंह



मूल प्रश्न तो यह है कि महिलाओं को अबला के बजाय सबला कैसे बनाया जायेगा? संविधान में पुरुष और महिलाओं को समानता का अधिकार दिये जाने के बावजूद इस स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं दिख रहा है। जिन कारणों से सर्वोच्च न्यायालय राज्य के संचालकों से असंतुष्ट हैं वे हैं अपराध जिनकी शिकार महिलाएं हो रही हैं। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि समता के अधिकार के बावजूद महिलाएं एक भिन्न समुदाय में यह भेद लैंगिक हैं। महिलाओं में सृष्टि संचालन के लिए आवश्यक प्रजनन क्षमता का होना उनकी विशिष्टता प्रतिपादित करने वाला है लेकिन यही कारण उन्हें हमलों का शिकार भी बनाता है। इसके लिए जो अपराध होते हैं उनके लिए मानवीय प्रवृत्तियों को जिम्मेदार ठहराया जाता है।



म | हिला सुरक्षा पर सुप्रीम कोर्ट कितना भी सख्त हो लेकिन मूल प्रश्न तो यह उठता है कि वह कौन सी कार्यविधियां अपनाई जायेंगी जिससे इन उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। एक ओर जहां जैसे ही देश में सुरक्षाबलों की कमी अनुभव की जा रही है वहीं, आबादी के तदनु रूप अपराधों की बढ़ती संख्या के आधार पर पुलिस बल की संख्या तो आधी भी नहीं है। महिलाओं की सुरक्षा का दायित्व किस पर सौंपा जायेगा, घर परिवार पर, अभिभावकों, संरक्षकों पर या शासन के विभिन्न कार्यरत विभागों में से किसी एक को इसके लिए छांटा जायेगा। तब भी तो यह सवाल उठेगा कि क्या उन्हें निर्धारित दायित्वों के निर्वाह के अलावा महिला सुरक्षा का भी कार्य सौंपा गया है। निर्धारित दायित्वों के निर्वाह के अलावा क्या वे इसे सम्पादित करने के लिए सक्षम हैं। उन्हें अधिकार का प्रश्न भी वर्तमान कानूनों में संशोधन करके ही संभव है लेकिन कठिनाई यह है कि सर्वोच्च न्यायालय इस कमी को तो देख सकता है लेकिन कार्यपालिका और विधायिका के दायित्वों का निर्वहन नहीं। कानून में परिवर्तन के लिए तो संसद और कुछ मामलों में

विधान मंडल ही सक्षम हैं। इसी प्रकार यदि वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था में कुछ हेरफेर करना हो तो यह प्रश्न संविधान संशोधन का बन जायेगा तब भी तो इसके लिए अतिरिक्त व्यक्तियों या बलों की नियुक्ति अनिवार्य होगी। यह काम विधानमंडलों द्वारा पारित बजट और कार्यपालिका द्वारा अपेक्षित संख्या में कार्यकर्ताओं की भर्ती से ही संभव होगा।

मूल प्रश्न तो यह है कि महिलाओं को अबला के बजाय सबला कैसे बनाया जायेगा? संविधान में पुरुष और महिलाओं को समानता का अधिकार दिये जाने के बावजूद इस स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं दिख रहा है। जिन कारणों से सर्वोच्च न्यायालय राज्य के संचालकों से असंतुष्ट हैं वे हैं अपराध जिनकी शिकार महिलाएं हो रही हैं। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि समता के अधिकार के बावजूद महिलाएं एक भिन्न समुदाय में यह भेद लैंगिक हैं। महिलाओं में सृष्टि संचालन के लिए आवश्यक प्रजनन क्षमता का होना उनकी विशिष्टता प्रतिपादित करने वाला है लेकिन यही कारण उन्हें हमलों का शिकार भी बनाता है। इसके लिए जो अपराध होते हैं उनके लिए





मानवीय प्रवृत्तियों को जिम्मेदार ठहराया जाता है। इसके लिए उसमें परिवर्तन या बदलाव की संभावनाएं कहां-कहां किस रूप में हैं, क्या शरीरजन्य भेद, स्वभागत हो जाते हैं। यदि यह सृष्टि और रचना से सम्बद्ध है तो दोनों को अलग-अलग मानकर व्यवस्थाएं करनी पड़ेंगी लेकिन इससे भी प्रवृत्ति और स्वभाव में कोई बदलाव नहीं आ पायेगा। हमने भले ही मातृ सत्तात्मक व्यवस्था के स्थान पर पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था और उसके स्वरूप को स्वीकार कर लिया हो और इस परिवर्तन के साथ ही हमने जीवन निर्वाह के साधनों पर वर्चस्व पुरुषों को सौंप दिया हो, उनकी निर्णायक स्थिति भी बना दी हो और महिलाओं को द्वितीय श्रेणी का नागरिक बनने के लिए बाध्य किया हो एवं यह मान लिया हो कि स्त्रियां पुरुषों के समकक्ष यानी बराबर नहीं हो सकतीं। कुछ मान्यताओं में इससे भी आगे बढ़कर महिलाओं को घरों और पदों तक धकेल दिया हो, उनके सम्बन्ध में आचार संहिताएं बनाने और नैतिकताओं के निर्माण के साथ ही निर्वहन का दायित्व भी पुरुषों को सौंप दिया हो लेकिन तब भी तो समाज में परिवर्तन का चक्र नहीं रुक पाया है।

पूंजीवादी समाज ने व्यक्ति के बजाय पूंजी के वर्चस्व को स्थापित किया जो उसने पुरुष और स्त्री समुदायों पर भी प्रभाव डाला और वे भी निर्णायक स्थितियों में पहुंचने लगीं। जब लोकतंत्र की स्थापना के साथ लैंगिक भेद के स्थान पर समतावादी समाज की स्थापना का निर्णय लिया गया तक उन्हें सत्ता के निर्माण में भागीदारी को निर्णय में ही नहीं कार्यरूप और व्यवहार तक आगे बढ़ाया। राज्य की स्थायी सेवाओं में महिलाओं के लिए दरवाजे खुले क्योंकि उनके लिये निर्णायक क्षमताओं और योग्यताओं को रखा गया था जिनकी परिभाषा लैंगिक भेदों से अलग, समान थी। वह जहां निर्णायक पदों पर भी पात्रताओं, योग्यताओं और क्षमताओं के आधार पर पहुंचने लगीं वहीं निर्वाचन प्रक्रिया में संसद और विधान मंडलों में भी इस वर्ग का अनुपात बढ़ाने के लिए आरक्षण तक की बात सोची जाने लगी और इसे कार्यरूप में सम्पादित करने का प्रयत्न भी। इसी के साथ अधिकारों के क्षेत्र में भी इनका समावेश हुआ। यह निश्चय हुआ कि पुरुष के साथ ही महिलाओं को भी

भूमि या अन्य स्वामित्व में साझीदारी मिलनी चाहिए और यह सिलसिला यहां तक बढ़ा कि बच्चों के मामले में बाप के साथ ही मां का नाम भी जुड़ना चाहिए क्योंकि यह पुरुषों के अकेले प्रयत्न का परिणाम नहीं है लेकिन जिस प्रवृत्ति की बात उठी थी उसमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हो पाया महिलाओं में भी अहं और स्वाभिमान की भावना विकसित होने लगी। वे अपने निर्णय के साथ ही अपनी शरीर की भी स्वामी के रूप में आगे आने लगीं। परिवार और विवाह नाम की संस्थाएं बदलने लगीं। परिवार और विवाह नाम की संस्थाएं भी इन प्रभावों से मुक्त नहीं रह पायीं। सहजीवन को मानव स्वतंत्रता के अधिकारों के साथ जोड़कर देखा गया और उसकी शुरुआत भी हो गयी इसलिए ऐसी स्थिति में यह प्रश्न महिलाओं को पुरानी स्थिति में ले जाने का तो रह ही नहीं गया लेकिन वे वास्तविक रूप से कैसे बराबरी के अधिकारों पर प्रतिष्ठित हों इसके लिए अपेक्षित प्रयत्न नहीं हो पाया। इसलिए वे अबला ही रह गयीं और असुरक्षित भी। इस स्थिति से मुक्ति के लिए वास्तव में संविधान की मान्यताओं के अनुरूप व्यवस्था करनी पड़ेगी। यह काम आसान नहीं है क्योंकि परंपरायें और पुरातन व्यवहार वह सामाजिक जकड़न हैं जिससे समाज अभी पूरी तरह से मुक्त नहीं हो पाया है इसीलिए महिलाओं के कई मामलों में पीड़ित होने के बावजूद उनका नाम तक छिपाने की आवश्यकता होती है क्योंकि जिसे कलंक कहा जाता है वह एक तरफा प्रभाव डालने वाला है। इससे तभी मुक्ति हो सकती है जब अबला को सबला के रूप में प्रतिष्ठित किया जाये और वह सभी क्षेत्रों में अपने अधिकारों का उपयोग करने में सक्षम हों। यह स्थिति खाली सुरक्षा सम्बन्धी आदेश देने से नहीं बल्कि सामाजिक ढांचे, उसकी मान्यता, स्वरूप तथा लागू करने की विधियों पर ही आधारित होंगे। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय का चिंतित होना जहां वर्तमान घटनाओं के संदर्भ में आवश्यकता है वहीं स्थिति में बदलाव तो भावी समाज व्यवस्था की रचना का दायित्व जिनके पास है, जिसे हम व्यवस्था में राज्य के रूप में जानते हैं, उसी के द्वारा संभव होगा।

(साभार : देशबंधु)

□ □ □



पुलिस सुधार का एफ.आई.आर.

● मुकेश कुमार सिंह

- पुलिसिंग को सुधारना है तो सबसे पहले यह सुनिश्चित करना होगा कि एफ.आई.आर. तो दर्ज हो ही।
- यही नहीं एफ.आई.आर. दर्ज होने के लिए ज्यादा से ज्यादा तरीके विकसित होने चाहिए। इस काम में इंटरनेट और एस.एम.एस. क्रांति ला सकते हैं।
- एफ.आई.आर. के आंकड़ों से ही क्राइम रिकॉर्ड्स ब्यूरो देश का अपराधिक मानचित्र बनाता है।
- थानेदार से लेकर मंत्री तक सबको इस आंकड़े के कारण फजीहत झेलनी पड़ती है।

दे | श एक कोलाहल में डूबा है। इस कोलाहल में नई दिल्ली की हालिया घटना के पीछे की वजहों को दूर करने को लेकर कई तरह की बातें हो रही हैं। यहां यह बात समझने की है कि तमाम अपराधों की तरह महिलाओं के साथ होने वाले हादसों के पीछे भी सामाजिक और प्रशासनिक दोनों पहलू हैं। प्रशासनिक तरीकों से ही सामाजिक बदलाव पुख्ता बनते हैं लेकिन देखते-देखते भारत के प्रशासनिक निकम्मेपन के बादलों ने पूरे समाज को ढक लिया। इसकी सही वजह को समझने तक हालात जस के तस ही रहेंगे। सबसे पहले समझना होगा कि पुलिस ही हुकूमत का बुनियादी चेहरा है। कहीं की भी पुलिस हो, उसका बुनियादी चेहरा सबसे निचले स्तर का कर्मचारी यानी सिपाही का ही होता है। आम आदमी का सबसे ज्यादा वास्ता उसी से पड़ता है। आमतौर पर सिपाही के अफसरों को इस बात की कोई परवाह नहीं होती कि उनका मातहत किस हाल में जीता है, अनुशासन के भारी दबाव के बावजूद क्यों वो वैसे काम नहीं कर पाता, जैसा उससे

अपेक्षित है? इसी बुनियादी सवाल के जवाब से पूरी कानून-व्यवस्था का रिपोर्ट कार्ड बनता है।

अपराध को रोकने, अपराधी को पकड़ने और पीड़ितों को इंसाफ दिलाने का असली दारामदार सिपाही पर ही होता है। हजारों कानूनों को लागू करने का जिम्मा इसी कमजोर तबके के कंधों पर होता है। पर सिपाही के पास किसी अपराधी को पकड़कर थाने ले जाने के अलावा और किसी भी कार्रवाई का अधिकार नहीं होता। फर्ज सारे इसके, ताकत कुछ भी नहीं। सड़क पर वह सीटी बजाता रहेगा लेकिन अगर कोई उसकी न सुने तो वह उसका बाल भी बांका नहीं कर सकता।

किसी भी दिल दहला देने वाले हादसे के बाद तमाम बातें जनमानस के सामने दोहराई जाती हैं। फिर भी कहीं कोई टिकाऊ बदलाव क्यों नहीं दिखता? बातें चाहे पुलिस को राजनीतिक शिकंजे से बाहर निकालने की हो, नेशनल लिटिगेशन पॉलिसी की, मॉडर्न पुलिस कोड की, पुलिस यूनिवर्सिटी बनाने की, अदालतों में लगाने वाले लंबे वक्त

की, गवाहों और पीड़ितों के साथ होने वाले गैरवाजिब बर्ताव की, अभियोजन-महानिदेशालय बनाने की, या फिर जजों और कोर्ट की संख्या बढ़ाने की, किसी का कुछ भी नतीजा नहीं निकलता। हालांकि इस बार माहौल कुछ ज्यादा ही बदला हुआ दिख रहा है। उम्मीद है कि जनता का उफान देर से ठंडा पड़ेगा। वैसे ये काम खासा बड़ा और पेचीदा है। अभी तक देश में सिर्फ एक ही काम समय पर हो पाता है और वह है विधायिका की खाली जगह को छह महीने के भीतर भर देना।

अगर किसी को यह लगता है कि सड़कों पर उतरे जनाक्रोश को देखते हुए हमारे हुक्मरान सबक लेंगे और एक झटके में 'सारे घर की बदल डालेंगे', तो यह भी एक मुगालता ही है। फिलहाल, ऐसा लग रहा है कि महिलाओं से जुड़े चुनिंदा अपराधों को लेकर कुछ सख्त कायदे हमारे सामने आ जाएंगे। लेकिन जल्दी ही उनका भी वैसा ही हाल होगा, जैसा हमने दहेज उत्पीड़न और बाल विवाद जैसे कानूनों का देखा है। ये कानून खासे सख्त हैं। फिर भी अपराध की रोकथाम में नाकाम साबित हुए। साफ है कि सिर्फ कानूनी सख्ती सारे मर्ज का इलाज नहीं है। महिलाओं या अन्य तबके के साथ होने वाले अपराधों की प्रवृत्ति में सिर्फ सेक्स ही डिटरमाइनिंग फैक्टर नहीं हो सकता। पुलिस और अदालत के ढरों में मामूली छेड़छाड़ करके उसे असरदार नहीं बनाया जा सकता। महिला पुलिस की संख्या आप भले ही बढ़ा लें, उनका जज्बा कैसे बदलेगा? जो भी गिनी-चुनी महिलाएं पुलिस में हैं, वे अपनी वर्दी पर गर्व नहीं करतीं। तभी तो ड्यूटी तक सिविल ड्रेस में पहुंचती हैं और वापस घर भी सिविल ड्रेस में ही जाती हैं। मर्द पुलिस वाले भी ऐसा खूब करते हैं। साफ है कि पुलिस वाले कैसे आत्मविश्वास में जीते हैं।

जो पुलिस के कामकाज और तौर-तरीकों को समझते हैं, उन्हें पता है कि अपराध नहीं हो सके, इसका सारा दारोमदार सिपाही पर ही होता है। इसलिए अपराध हो जाने पर उसका सबसे पहला 'पराक्रम' इस बात को लेकर

होता है कि एफ.आई.आर. दर्ज न हो। भले ही ये उससे भी बड़ा अपराध हो लेकिन पूरे प्रशासनिक तंत्र की खाल बचाने के लिए सिपाही को ऐसा ही करना पड़ता है। एफ.आई.आर. के आंकड़ों से ही क्राइम रिकॉर्ड्स ब्यूरो देश का आपराधिक मानचित्र बनाता है। थानेदार से लेकर मंत्री तक सबको इस आंकड़े के कारण फजीहत झेलनी पड़ती है।

एफ.आई.आर. दर्ज होने के लिए ज्यादा से ज्यादा तरीके विकसित होने चाहिए। इस काम में इंटरनेट और एस.एम.एस. क्रांति ला सकते हैं। एफ.आई.आर. दर्ज होने के बाद पुलिस के काम की समीक्षा इस बात से होनी चाहिए कि उसने क्या जांच या कार्रवाई की, कितने वक्त में जांच पूरी की, कितने अपराधियों को पकड़ा, क्या बरामदगी की, कितने लोगों को अदालती कार्रवाई के बाद सजा दिलवा सकी? झूठी या दुर्भावनापूर्ण कारणों से एफ.आई.आर. दर्ज करवाने वाले का क्या हथ्र हुआ? पुलिस के काम की समीक्षा सिर्फ इन्हीं आधारों पर होनी चाहिए।

छोटे अपराधों को छोड़ दें तो पुलिस मानती है कि बड़े अपराधों के मामले में एफ.आई.आर. दर्ज करने से बचा नहीं जा सकता है। वैसे कोर-कसर तो इसमें भी नहीं छोड़ी जाती। इसीलिए पुलिसिंग को सुधारना है तो सबसे पहले यह सुनिश्चित करना होगा कि एफ.आई.आर. तो दर्ज हो ही। यही नहीं एफ.आई.आर. दर्ज होने के लिए ज्यादा से ज्यादा तरीके विकसित होने चाहिए। इस काम में



इंटरनेट और एस.एम.एस. क्रांति ला सकते हैं। एफ.आई.आर. दर्ज होने के बाद पुलिस के काम की समीक्षा इस बात से होनी चाहिए कि उसने क्या जांच या कार्रवाई की, कितने वक्त में जांच पूरी की, कितने अपराधियों को पकड़ा, क्या बरामदगी की, कितने लोगों को अदालती कार्रवाई के बाद सजा दिलवा सकी? झूठी या दुर्भावनापूर्ण



कानूनी इबारतों की भी एक सीमा है। वह जहां खत्म होती है, वहीं से पुलिस, अदालत और हुकूमत की सरहद शुरू होती है। इन्हीं सरहदों के दरम्यान समाज महफूज रह पाता है। कानून की सीमा अगर अभेद्य किले जैसी हो भी जाए और हुकूमत की सरहद खुली सीमा की मानिंद ही रह गई तो क्या तस्वीर बदल सकती है? नहीं, कभी नहीं।



कारणों से एफ.आई.आर. दर्ज करवाने वाले का क्या हथ्र हुआ? पुलिस के काम की समीक्षा सिर्फ इन्हीं आधारों पर होनी चाहिए। इसी आधार पर ऊपर बैठे लोग तय करें कि पुलिस कैसा काम कर रही है और उसके सामने क्या चुनौतियां हैं।

सही तरीका यही है। जब तक हम इसे नहीं अपनाएंगे, तब तक पुलिस के चेहरे का नूर नहीं बढ़ सकता। वैसे भी समाज में पुलिस के काम को और पुलिस वाले को कौन सम्मान से देखता है? कोई भी समाज पुलिस के बगैर एक पल नहीं चल सकता। फिर भी उसके बारे में हमारा रवैया नहीं बदलता है। सिर्फ इस बात की रट लगाए रहने से कुछ

नहीं होगा कि पुलिस निकम्मी और भ्रष्ट है। यह सब जानते हैं। लेकिन इसकी असली वजह क्या है और वो कैसे दुरुस्त होगी, इसकी बात कम ही हो रही है। कड़े कानून बनाने, फांसी देने और संसद का विशेष सत्र बुलाने के सारे सुझाव लीपापोती के वही आजमाये हुए हथकंडे हैं, जो हम हमेशा से देखते आए हैं। इनसे जमीनी हालात नहीं बदलेंगे।

जरा सोचिए कि कैसे किसी मामले में एफ.आई.आर. दर्ज होने के बाद पीड़ितों को अपना बयान दर्ज करवाने से लेकर जांच की पूरी प्रक्रिया के दौरान क्या-क्या झेलना पड़ता है? इनसे पार उतरने के बाद अदालतों में क्या-क्या छीछालेदर भुगतनी पड़ती है? ऐसा हरेक अपराध के मामले में होता है, सिर्फ बलात्कार या हत्या के मामले में नहीं। इस स्तर पर सिस्टम बदलने की जरूरत है। नजरअंदाजी से न तो अपराध रुक सकते हैं, न अपराधी को सजा हो सकती है और न ही पुलिस और हुकूमत को बेहतर बनाया जा सकता है। जबकि इन सबकी बेहद जरूरत है। पुलिस की कोई भी कार्रवाई बगैर कोर्ट-कजहरी के पूरी नहीं हो सकती। लिहाज़ा, यह भी है कि कोर्ट-कजहरी को सुधारे बगैर पुलिस सुधार की प्रक्रिया पूरी नहीं होगी। इसके लिए व्यवस्था बदलनी होगी। सिर्फ कानून बदलने से भी ऐसा नहीं होगा। कितना भी सख्त कानून हो, लागू तो उसे पुलिस और अदालत ही करेंगी।

कानूनी इबारतों की भी एक सीमा है। वह जहां खत्म होती है, वहीं से पुलिस, अदालत और हुकूमत की सरहद शुरू होती है। इन्हीं सरहदों के दरम्यान समाज महफूज रह पाता है। कानून की सीमा अगर अभेद्य किले जैसी हो भी जाए और हुकूमत की सरहद खुली सीमा की मानिंद ही रह गई तो क्या तस्वीर बदल सकती है? नहीं, कभी नहीं। यहां यह साफ होने का है पुलिस और अदालत के चेहरे को बदलने का काम खासा खर्चीला है। दुनिया में इसके लिए तरह-तरह के सिद्धांत और फार्मूले अमल में लाए जाते रहे हैं।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





गुमशुदा बच्चों के प्रति असंवेदनशील क्यों?

● ऋतु सारस्वत

यह देखने में आया है कि बच्चों के लापता होने जैसे बेहद चिंताजनक विषय पर पुलिस का यह मानना रहता है कि कमजोर तबकों के गायब हुए बच्चे या तो कहीं भाग गए हैं या भटक गए हैं और कुछ समय पश्चात स्वयं ही लौट आएं पर यह सच नहीं है क्योंकि विभिन्न शोध, मानवाधिकार आयोग और गैर-सरकारी संगठन के अध्ययन, इस तथ्य को उजागर करते हैं कि लापता हुए ज्यादातर मासूम तस्करी के शिकार हो जाते हैं। यह गौरतलब है कि बच्चों का अपहरण देश में एक उद्योग के रूप में पनपता जा रहा है।

बी | ते दिनों उच्चतम न्यायालय ने लापता बच्चों के मुद्दे पर केंद्र और राज्य सरकारों की आलोचना करते हुए कहा कि ऐसा लगता है कि किसी को बच्चों की चिंता नहीं है। लापता बच्चों को तलाशने के मामले में सुनवाई के दौरान पूर्व निर्देशों के बावजूद अरुणाचल प्रदेश, गुजरात और तमिलनाडु के मुख्य सचिवों की अनुपस्थिति पर मुख्य न्यायाधीश की पीठ को यहां तक कहना पड़ा कि क्या अगली बार इन मुख्य सचिवों के खिलाफ गैर-जमानती वारंट जारी किए जाएं? दो वर्षों में देश भर से पौने दो लाख बच्चों का लापता होना सरकारी अधिकारियों के लिए भले मायने नहीं रखता हो, लेकिन जिन घरो से ये बच्चे गायब हुए, उनकी क्या हालत होगी? ये आंकड़े तो वह हैं, जो थाने में दर्ज हुए हैं, परंतु एक बड़ा प्रतिशत ऐसे अभिभावकों का भी है जो अपने गायब हुए बच्चे की रिपोर्ट दर्ज नहीं करवा पाते। यह सर्वविदित सत्य है कि देश की कानून व्यवस्था से लेकर प्रशासन बच्चों से जुड़े मामलों को लेकर असंवेदनशील और अकर्मण्य है। ऐसी घटनाओं पर उच्च न्यायालय ने दिल्ली पुलिस को काफी पहले यह पता लगाने का निर्देश दिया था कि कहीं यह किसी संगठित अपराध के चलते तो नहीं हो रहा है? क्योंकि इतने बड़े स्तर पर बच्चों का यूं लापता होना, अपने आप में यह बताने के लिए काफी है कि इसके पीछे बच्चों

की तस्करी में लिप्त लोगों का हाथ हो सकता है।

यह देखने में आया है कि बच्चों के लापता होने जैसे बेहद चिंताजनक विषय पर पुलिस का यह मानना रहता है कि कमजोर तबकों के गायब हुए बच्चे या तो कहीं भाग गए हैं या भटक गए हैं और कुछ समय पश्चात स्वयं ही लौट आएं पर यह सच नहीं है क्योंकि विभिन्न शोध, मानवाधिकार आयोग और गैर-सरकारी संगठन के अध्ययन, इस तथ्य को उजागर करते हैं कि लापता हुए ज्यादातर मासूम तस्करी के शिकार हो जाते हैं। यह गौरतलब है कि बच्चों का अपहरण देश में एक उद्योग के रूप में पनपता जा रहा है। लापता बच्चों को ढूंढना पुलिस का दायित्व है परंतु न्यायालय के बार-बार आगाह करने पर भी उच्च पदस्थ अधिकारी आंखों मूंदकर बैठे हैं। घोर निराशा का विषय तो है ही मुख्य सचिव स्तर के अधिकारी भी इस संवेदनशील मुद्दे को गंभीरता से नहीं ले रहे हैं। देश में गुमशुदा बच्चों के बढ़ते मामले कागजी तौर पर हमेशा सुर्खियों में रहे और केंद्र सरकार ने इस ओर समय-समय पर अपनी संवेदनशीलता जाहिर की। 2011 के मध्य में केंद्र सरकार ने लापता बच्चों के मामलों पर नजर रखने के लिए एक निगरानी तंत्र कायम करने की बात की थी, परंतु अगर इस दिशा में मुस्तैदी से काम किया गया होता तो उच्चतम न्यायालय को यूं ही प्रतिक्रिया देनी नहीं पड़ती। इसमें कोई दो राय नहीं



है कि बच्चों के लापता होने की घटनाओं पर लगाम लगाने के लिए एक राष्ट्रीय नेटवर्क की आवश्यकता है, जो न केवल लापता होने का ब्यौरा गंभीरता से दर्ज करें, बल्कि उनकी वापसी को भी वरीयता के आधार पर दर्ज करें। गौरतलब है कि निठारी कांड के बाद राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने पी.सी. शर्मा की अगुआई में एक समिति का गठन किया था। समिति ने ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए उस वक्त कई सिफारिशें सुझाई थीं। अगर इन सिफारिशों को गंभीरता से लिया जाता तो देश के नौनिहालों की स्थिति इतनी दारुण न होती। पी.सी. शर्मा समिति का यह सुझाव आज भी प्रासंगिक है कि बच्चों के लापता होने की घटनाओं पर लगाम लगाने के लिए राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो को राष्ट्रीय पहचान तंत्र गठित करना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत में हर साल औसतन साढ़े चौवालीस हजार बच्चे गुम हो जाते हैं। उनमें से कई यौन-शोषण के अड्डों, भीख मंगवाने वाले या मानव अंगों की तस्करी करने वाले गिरोहों के पास पहुंचा दिये जाते हैं। गैर सरकारी आंकड़ों के मुताबिक दुनिया में हर साल 72 लाख बच्चे बाल दासता के शिकार होते हैं। इनमें एक तिहाई बच्चे दक्षिण दशियाई देशों के होते हैं। भारत में बाल-व्यापार में धकेले जा रहे बच्चों की कोई प्रामाणिक संख्या उपलब्ध नहीं है, परंतु स्थिति की गंभीरता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि देश के विभिन्न थानों में हर साल सात लाख बच्चों की गुमशुदगी की रिपोर्ट दर्ज कराई जाती है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग हर वर्ष 'एक्शन रिसर्च ऑन ट्रेफिकिंग इन वुमेन एंड चिल्ड्रेन' रिपोर्ट जारी करता है, जिसमें कहा जाता है कि जिन बच्चों को पता नहीं लगता वास्तव में लापता नहीं होते, बल्कि उनका अवैध व्यापार किया जाता है। इसमें से एक बड़ी संख्या को यौन पर्यटन के नृशंस कारोबार में फेंक दिया जाता है। अरुणाचल, नागालैण्ड एवं तमिलनाडु में गायब होने वाले बच्चों का प्रतिशत 100 से बढ़कर 211 हो चुका है। अध्ययन बताते हैं कि बाल-तस्करी का मुख्य केंद्र बिंदु तीन स्तंभों पर टिका है - पहला, पैसे के लिए यौन शोषण, दूसरा मजदूरी कराने के लिए शोषण और तीसरा, अंगों की तस्करी, ऊंट जाँकिंग आदि के लिए।

भारत के भीतर बच्चों की तस्करी के अवैध व्यापार में सामाजिक-आर्थिक कारण ही मुख्य भूमिका निभा रहे हैं। गरीबी, अशिक्षा, रोजगार का अभाव और भविष्य के लिए सुरक्षा व्यवस्था का न होना आदि कारकों से ही बच्चे कई बार स्वयं मजबूर होकर निकलते हैं या फिर उनके अभिभावक उन्हें बाहर भेजते हैं, और येन-केन प्रकारेण वह तस्करों के जाल में फंस जाते हैं। बाल तस्करी, एक ऐसे लाभप्रद व्यवसाय के तौर पर उभरा है कि इस अपराध में लगे माफिया समूहों ने इसके लिए भी एक अडरवर्ल्ड व्यापारिक संरचना विकसित कर ली है। जहां सुरक्षा का अभाव है, कानून व्यवस्था कमजोर है, वहां इनकी नजर गड़ी रहती है और उचित अवसर पाते ही ये बच्चों को गायब कर देते हैं। इस अवैध कारोबार को रोकने के लिए हमेशा कड़े कानून की बात की जाती रही है। इसके लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का यू.एन. कंवेन्शन अगैस्ट ट्रांसनेशनल ऑर्गेनाइज्ड क्राइम (द मालेर्मो प्रोटोकॉल) है। भारत में अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम केवल वेश्यावृत्ति तक सीमित है, इस कारण यह बच्चों के लिए व्यापक संरक्षणकर्ता का दायित्व नहीं निभा सकता। अंगों की तस्करी, बच्चों का भीख मांगना अपराध की श्रेणी में आता है; परंतु कड़े कानून, निगरानी व्यवस्था एवं विभिन्न संबंधित विभागों के बीच समन्वय एवं सहयोग के अभाव में बाल-तस्करी के आंकड़े द्रुत गति से बढ़ते जा रहे हैं।

देश में गायब होते बच्चों की तादाद में तब तक कमी नहीं आएगी, जब तक कानून परिचालन संस्थाएं और न्याय देने वाली एजेंसियां इस मुद्दे से जुड़े मामलों को प्राथमिकता नहीं देंगी। कानून परिचालन की एक मुख्य खामी यह भी है कि मानव तस्करों और शोषण करने वालों के बारे में आंकड़े और जानकारी नहीं रखी जाती। यही कारण है कि अपराधी बेखौफ अपने काम को अंजाम देते हैं। बच्चे किसी देश और समाज की बुनियाद होते हैं और उनके प्रति संवेदनहीनता, देश के भविष्य के लिए घातक है। इसलिए यह जरूरी है कि बच्चों के अधिकारों की सुरक्षा एवं उनके संरक्षण को देश पहली प्राथमिकता दे।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





स्त्री सुरक्षा और सम्मान : कुछ सुझाव

• ललित सुरजन

मेरी राय में सबसे बड़ी जिम्मेदारी हमारे लेखकों, अध्यापकों और अन्य बुद्धिजीवियों पर है। आज का बच्चा जो, कुछ घर में सीखता है उससे कहीं ज्यादा व बाह्य परिवेश याने स्कूल, कॉलेज, मित्रमण्डली, सिनेमा और टीवी से ग्रहण करता है। इसे ध्यान में रखकर देखना चाहिए कि हमारी पाठ्यपुस्तकें उसे क्या सिखा रही हैं। जरूरी होगा कि पुरुष वर्चस्व को स्थापित करने वाले पाठ हटाए जाएं और उसकी जगह वह सामग्री दी जाए जो आदमी और औरत की समानता को प्रतिष्ठित करती हैं।

जब भावनाएं उफान पर हों तब सहज बुद्धि और तर्क किनारे धरे रह जाते हैं। जब भावनाएं खुद होकर उमड़ती हैं तब उनमें आगे का रास्ता बना लेने की क्षमता भी अन्तर्निहित होती है, लेकिन जहां उफान का स्रोत बाहरी हो तब बहाव के बीच भंवर पैदा होने का खतरा भी विद्यमान होता है। दिल्ली के सामूहिक बलात्कार कांड की प्रतिक्रिया में जो वातावरण बना उसमें ऐसी ही कुछ स्थिति देखने में आई। यदि इस पाशविक अपराध की खबर मिलने के बाद दिल्ली के युवा अपने गुस्से का इजहार करने के लिए खुद-ब-खुद सड़कों पर उतर आए तो छद्म विद्रोहियों व देश की दुर्दशा से उबारने का संकल्प लिए बैठे पेशेवर समूहों ने उस जायज गुस्से को एक तमाशे में तब्दील करने में कोई देरी नहीं की।

बहरहाल अब पूरे देश में इस त्रासद वाक्ये को लेकर जो क्रोध है वह लोगों के हृदय में भीतर ही भीतर भले ही सुलग रहा हो, उसके साथ-साथ एक संकल्प भी सामूहिक रूप से बन रहा है कि दुबारा ऐसा न हो इसके लिए विवेकपूर्ण ढंग से सारी स्थितियों पर विचार करके आगे का रास्ता तलाशा जाए। इस बीच में मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़,

पंजाब, पश्चिम बंगाल व अन्य प्रदेश में भी बलात्कार व स्त्रियों पर हो रहे अन्य अत्याचारों की जो खबरें सामने आई हैं उन्होंने भी जनसंकल्प को दृढ़ करने का काम किया है। यह तथ्य भी अब सबकी नजर में है कि स्त्रियों के प्रति हो रहे अपराधों के लिए यदि न्याय व्यवस्था की एजेंसियां बड़ी हद तक जिम्मेदार हैं तो देश की रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था और इसके अलावा अर्थनीति का कारपोरेटीकरण भी उतने ही जिम्मेदार हैं।

इस पृष्ठभूमि में हम विचार कर सकते हैं कि ऐसे कौन से कदम उठाए जाएं जिनसे भारत में स्त्रियों का सम्मान व गरिमा सुनिश्चित की जा सके। न्यायमूर्ति जे.एस. वर्मा कमेटी के सामने इस बीच सैकड़ों सुझाव विभिन्न व्यक्तियों, दलों व समूहों द्वारा पेश किए गए हैं। उनके आधार पर निश्चित ही कुछ ठोस कदम उठाने की पहल आने वाले दिनों में होगी, किंतु जितना मैं देख सका हूं उससे लगता है कि वर्मा कमेटी के सामने रखे गए ज्यादातर सुझाव कानून व्यवस्था से संबंधित हैं तथा अन्य पहलु काफी हद तक अलक्षित रह गए हैं। अनेक समाज विज्ञानियों व सामाजिक कार्यकर्ताओं ने दूसरे पहलुओं पर अपने



विचार प्रकाशित किए हैं, तथापि एक नया वातावरण बनाने के लिए क्या-क्या कदम अपनाए जाएं इस बारे में कुछ और स्पष्टता के साथ बात करना अभीष्ट है।

मेरा मानना है कि भारत में औरत के साथ दोगम दर्जे का बर्ताव आज नहीं, अनादिकाल से होते आया है।

भारत में औरत के साथ दोगम दर्जे का बर्ताव आज नहीं, अनादिकाल से होते आया है। उसे जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में पुरुष के संरक्षण में रहना चाहिए, यह भारतीय समाज की मान्यता है। स्त्री-पुरुष संबंधों में जब सामाजिक रुढ़ियों के अनुसार कुछ भी अवांछनीय घटता है तब उसमें हमेशा स्त्री को ही दोषी ठहरा दिया जाता है। ऐसे में पहला प्रश्न तो यही है कि समाज में नई सोच कैसे पैदा हो। दूसरे- भारत में ही नहीं लगभग सारी दुनिया में स्त्री को भोग्या ही माना जाता रहा है और पूंजीवादी शक्तियाँ इसी मानसिकता का लाभ उठाकर बाजार के एक बड़े हिस्से को संचालित करते आई हैं।

उसे जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में पुरुष के संरक्षण में रहना चाहिए, यह भारतीय समाज की मान्यता है। स्त्री-पुरुष संबंधों में जब सामाजिक रुढ़ियों के अनुसार कुछ भी अवांछनीय घटता है तब उसमें हमेशा स्त्री को ही दोषी ठहरा दिया जाता है। ऐसे में पहला प्रश्न तो यही है कि समाज में नई सोच कैसे पैदा हो। दूसरे- भारत में ही नहीं लगभग सारी दुनिया में स्त्री को भोग्या ही माना जाता रहा है और पूंजीवादी शक्तियाँ इसी मानसिकता का लाभ उठाकर बाजार के एक बड़े हिस्से को संचालित करते आई

है। अतः इस बात पर भी गौर करना आवश्यक है कि बाजार को किस रूप में नियंत्रित किया जाए। तीसरे-वर्तमान दौर में तकनीकी विकास के चलते जनसंचार माध्यम जिस तरह से पनपे हैं उसमें भी स्त्री की उस रुढ़िग्रस्त छवि को ही पुष्ट किया जा रहा है याने यहां भी नई सोच की जरूरत है। अंतिमतः इन सबके अलावा न्याय व्यवस्था के तंत्र को भी संवेदनशील बनाने और उसमें नवाचार लाने के प्रयत्न करना भी बेहद आवश्यक है। मैं कुछ बिन्दुवार सुझाव सामने रखना चाहता हूँ -

1. मेरी राय में सबसे बड़ी जिम्मेदारी हमारे लेखकों, अध्यापकों और अन्य बुद्धिजीवियों पर है। आज का बच्चा जो कुछ घर में सीखता है उससे कहीं ज्यादा व बाह्य परिवेश याने स्कूल, कॉलेज, मित्रमण्डली, सिनेमा और टीवी से ग्रहण करता है। इसे ध्यान में रखकर देखना चाहिए कि हमारी पाठ्यपुस्तकें उसे क्या सिखा रही हैं। जरूरी होगा कि पुरुष वर्चस्व को स्थापित करने वाले पाठ हटाए जाएं और उसकी जगह वह सामग्री दी जाए तो आदमी और औरत की समानता को प्रतिष्ठित करती हैं।
2. टी.वी. सीरियल, सिनेमा व अखबारों में भी उस सामग्री पर रोक लगना लाजिमी है जो पुरुषवादी मानसिकता को बढ़ावा देती व स्त्री को दोगम दर्जे पर खड़ा करती हैं। अभिव्यक्ति की आज़ादी के नाम पर आप कुछ भी लिखें और कुछ भी दिखाएं इस तर्क को बहुत लंबा नहीं खींचना चाहिए। एक पत्रकार होने के नाते मुझे सेंसरशिप की वकालत नहीं करना चाहिए, लेकिन जो सामग्री इन दिनों परोसी जा रही है, उससे स्पष्ट है कि हमारे भीतर स्वविवेक से निर्णय लेने की क्षमता का अभाव हो चला है।
3. यह जाहिर है कि अधिकतर साहित्य में पुरुषों द्वारा रचा गया है। भारत के जिस मूर्तिशिल्प का इतना बखान होता है वह भी पुरुषों ने ही उकेरा है। हमें



- यह सच्चाई स्वीकार कर लेना चाहिए कि अतीत में विलासी राजाओं के आदेश से ये रचनाएँ हुई थीं। हरिमोहन झा के खट्टर काका श्रृंखला के निबंधों में इसका प्रमाण मिलता है। जो है उसे मिटाने की बात तो नहीं है, लेकिन यह तो हम मानें कि देहराग की ये कृतियां सृजन क्षमता का नहीं, बल्कि भोगवादी मानसिकता का उत्स हैं।
4. जो भी पाठ्यपुस्तकें लिखी जाएं, जो सीरियल व फिल्में बनें उनका परीक्षण करने के लिए बनी कमेटियों में स्त्रियों का समुचित प्रतिनिधित्व होना चाहिए।
 5. एडवरटाइजिंग स्टैंडर्स कौंसिल ऑफ इंडिया जैसी संस्थाओं में विज्ञापनों के परीक्षण के लिए बनी समितियों में महिलाओं को समुचित स्थान दिया जाए। ये समितियां शिकायत मिलने पर नहीं, बल्कि खुद संज्ञान लेकर परीक्षण करें।
 6. यदि सीरियल लेखक, गीतकार, संवाद लेखक, विज्ञापन लेखक, हास्य कवि और पत्रकार तय कर लें कि उन्हें स्त्री का अपमान करने वाली बातें नहीं लिखना है और इसके लिए अपनी कलम नहीं बेचेंगे तो वे भूखे नहीं मर जाएंगे।
 7. भारत में साल में 365 दिन औरतों के लिए किसी न किसी उपवास का प्रावधान रहता है। यह पिता, पति और पुत्र का दायित्व है कि वह इसके खिलाफ आवाज उठाएं। जिस समाज में औरत के लिए एक जन्म भारी पड़ता है वहां सात जन्मों तक वही पति पाने की मनौती क्यों मानी जाए? मेरी राय में करवा चौथ, तीज, छठ जैसे पर्वों का स्वरूप बदल देना चाहिए।
 8. जहां तक कानून व्यवस्था की बात है, सिपाहियों को उनकी ट्रेनिंग के दौरान सबसे पहले यही सिखाया जाना चाहिए कि वे स्त्री जाति व वंचित समूहों सम्मान करना सीखें व उसके साथ अदब के साथ पेश आए। उन्हें संवेदनशील बनाने के लिए तत्काल बड़े पैमाने पर विशेष प्रशिक्षण आयोजित किए जाएं।
 9. जिस तरह मायवती ने घोषणा की है कि वे किसी बलात्कारी को आगे टिकट नहीं देंगी उसी तरह सारे राजनीतिक दल शपथ लें कि स्त्रियों के अपमान के किसी भी आरोपियों को कोई भी पद नहीं दिया जाएगा।
 10. राजनीतिक दलों को अपने संसद सदस्यों से लेकर ग्राम स्तर तक के कार्यकर्ताओं तक के लिए प्रशिक्षण आयोजन करना चाहिए जहां उन्हें रुढ़िवादी, ओछी, पूर्वाग्रह से ग्रस्त मानसिकता से मुक्त होने का पाठ पढ़ाने के साथ तमीज़ से बात करना भी सिखाया जाए।

(साभार : देशबंधु)

“Peace cannot be kept by force; it can only be achieved by understanding.”

—**Albert Einstein**



गरीब हों या अमीर, माता पिता को निभाना चाहिये निगरानी की जिम्मेदारी

लापता बच्चों की माओं की पीड़ा हो जाती है स्थाई

सर्वोच्च न्यायालय की फटकार के बाद तो जाग जाना चाहिये पुलिस और प्रशासन को

● मृदुला सिन्हा



“माता-पिता और समाज की जिम्मेदारियां भी हैं। गुमशुदा हुए बच्चों में जैसे बच्चे अधिक हैं जिनकी गलत संगति पर माता-पिता की निगाहें नहीं जाती या वे प्रारंभ में अनदेखा करते हैं, या उनके अंदाज या फुर्सत नहीं कि अपने बच्चों की गतिविधियों पर ध्यान दे सके। समस्या तो उन मांओं की है जो कुहरती रहती हैं। जिन्दा या मुर्दा, अपना बच्चा चाहती हैं। बच्चों की भयावह स्थितियों की कल्पना कर स्वयंसेवी संस्थाएं जो बच्चों के विकास कार्य में लगी हैं, इन्हें माताओं के मन को भी समझना चाहिए। उनकी काउंसिलिंग करना चाहिए।”



सां | सारिक जीवन में मां की महिमा पिता से अधिक आंकी गई है। संतान की उत्पत्ति पर पिता से अधिक मां को ही बधाइया मिलती है। बालक जन्म पर गीत गाए जाते हैं-“बबुआ, बाबा के वंश बढ़ावन अइले ना। बबुआ दादी की गोद में खिलौना भइले ना।” घर का नन्हा शिशु परिवार के विभिन्न रिशतों से बनाता है। हर रिश्ता की अपनी तासीर होती, मां तो मां ही होती है। इस मां का रूप पीड़ा सहने का ही है। सबसे पहले तो बच्चा नहीं होने की पीड़ा। जो स्त्री मां नहीं बनती (जानबूझ कर मां बनने वाली को छोड़कर) उसकी अपनी पीड़ा होती है। प्रकृति ने उसे मां बनने की जिम्मेदारी देकर भेजी है तो संस्कृति (समाज) भी उससे वंश को आगे बढ़ाने की अपेक्षा रखती है। मां बनने की अवस्था आने पर स्त्री के शरीर में कुछ रासायनिक परिवर्तन होते हैं जो मां बनने की उत्कंठा पैदा करते हैं। वह उत्कंठा इतनी तीव्र होती है कि वह प्रसूति की अतुलनीय पीड़ा भी सह जाती है। उस पीड़ा को

सहकर शिशु का कहां-कहां का सुनना, उसके लिए परमानंद की प्राप्ति ही होती है। इसलिए उसे साधु-संत की भी श्रेणी में रखा जा सकता है। साधु संतों को भी कठिन तपस्या के बाद ही परमानंद की प्राप्ति होती है। स्त्री को मां बनने के लिए गहनतम पीड़ा से गुजरना पड़ता है। शिशु के जन्म पर मां आनन्दित अवश्य होती है, लेकिन बच्चे के बढ़ने के साथ तिल-तिल चिंतित रहती है। बच्चा अच्छा करता है तो आंखों में (खुशी के) आंसू, बुरा करता है तो आंसू। सबला जीवन में भी आंचल में दूध और आंखों में पानी ही रहता है। हमारे देश में बच्चों के जन्मदर पर बहुत हो हल्ला मचाया जाता है। आबादी कम करने की बात उठती है। हम इसके लिए शर्मिन्दगी महसूस करते हैं। पर मृत्युदर कम नहीं है। मृत्युदर को बिना संवेदनशील मन के नहीं जांचा जा सकता। बच्चा न होना चिंतादायक है, पर बच्चा होकर मर जाना तो मां के लिए आजीवन पीड़ादायक है। जिन बच्चों के साथ माएं कुछ दिन नहीं बितातीं, जन्म लेते या





जन्म लेने के महीने-दो महीने के अंतर पर जिनकी मृत्यु हो जाती है, माएं उनका स्पर्श और चेहरा भी आजीवन नहीं भूलतीं। इन दिनों गुमशुदा बच्चों के बारे में सुप्रीम कोर्ट द्वारा जताई चिंता और सरकार से पूछे गए सवाल ने समाज का ध्यान गहनतम समस्या की ओर खींचा है। समस्याएं तो चिंतादायक होती ही हैं, पर यह समस्या तो पीड़ादायक ही है। जो मां अपने बच्चे के समय से घर नहीं लौटने पर चिंतित हो जाती है, थोड़ी देर के लिए मृत्युप्राय हो जाती है, जीवित बच्चे के गुमनाम हो जाने पर उसकी क्या स्थिति होती होगी, सरकार समाज क्या उसके घर वाले भी उसके घायल मन का दर्द नहीं आंक सकते। “घायल की गति घायल, जाने और न जाने कोई” वाली कहावत आंकड़े बताते हैं कि हर रोज औसतन 11 (ग्यारह) बच्चे गुमशुदा होते हैं। सुप्रीम कोर्ट ने तो गत 6 फरवरी को अरुणाचल प्रदेश, गुजरात और तमिलनाडु की सरकारों को फटकार लगाई। हैरानी की बात यह है कि जहां राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के मुताबिक हर आठ मिनट में देश के किसी न किसी कोने से बच्चा गुम हो जाता है, वहीं इन बच्चों के संबंध में पुलिस ढूंढने में संतोषजनक सहयोग देने की तो छोड़िए एफआईआर तक लिखने से आनाकानी करती है। हर साल लापता होने वाले ऐसे बच्चों में से 40 फीसदी बच्चे कभी नहीं मिल पाते। वर्ष 2012 में 60 हजार बच्चे लापता हुए। वैसे यह सरकारी आंकड़ा है और उन गायब बच्चों का आंकड़ा है, जिनकी एफआईआर लिखी गई है। गैर आधिकारिक आंकड़ों के मुताबिक देश में हर साल 10 लाख से ज्यादा बच्चे गुम हो जाते हैं। देश में सबसे ज्यादा बच्चों के लापता होने के मामले पश्चिम बंगाल से आते हैं। इसके बाद महाराष्ट्र, ओडिशा, जम्मू-कश्मीर, झारखंड और पंजाब से बच्चे लापता होते हैं। अकेले दिल्ली में ही वर्ष 2011 में 5,111 बच्चे लापता हुए और मध्यप्रदेश में 7,797 जबकि इसी अवधि में पश्चिम बंगाल में 12000 बच्चे लापता इस समस्या के आंकड़ों में जाने पर हम अंको में ही उलझ जाएंगे। सवाल तो यह है कि मात्र आंकड़ों और संवेदनशील अक्षरों से क्या गहनतम और पीड़ादाई स्थिति

का जायजा लिया जा सकता है? उत्तर होगा, कभी नहीं। राज्य सरकारों को सुप्रीम कोर्ट से फटकार लगना अच्छी बात है। कम से कम देश के सामने इस की गंभीरता तो प्रकट होती है न। लेकिन माता-पिता और समाज की जिम्मेदारियां भी हैं। गुमशुदा हुए बच्चों में वैसे बच्चे अधिक हैं जिनकी गलत संगति पर माता-पिता की निगाहें नहीं जाती या वे प्रारंभ में अनदेखा करते हैं, या उनके अंदाज या फुर्सत नहीं कि अपने बच्चों की गतिविधियों पर ध्यान दे सके। माता-पिता की भी दो श्रेणियां हैं- एक में वे जिन्हें दो वक्त की रोटी कमाने से फुर्सत नहीं मिली कि अपने बच्चों (इनके बच्चों भी अधिक होते हैं) की गतिविधियों पर नजर रख सकें, या उन्हें रोक सकें। दूसरी श्रेणी में वे माता-पिता आते हैं जो कि उन्हें पैसा अधिक आ गया। उन्हें अपने मौजमस्ती से फुर्सत नहीं। अभिप्राय यह कि माता-पिता को अपने बच्चों की गतिविधियों और गलत संगति की जानकारी नहीं लेना, उनकी लापरवाही मानी जाएगी। समाज भी कम दोषी नहीं। हमारे अगल-बगल बच्चों के हमें अपना घर संभालने से ही फुर्सत नहीं। हम यह भूल जाते हैं कि हमारे आसपास धुंआ उठ रहा है तो लपट हमारे घर तक भी आएगी। हम इतने स्वार्थी हो रहे हैं और स्वार्थ को इतना छोटा करते जा रहे हैं कि समाज और देश का स्वार्थ भी भूलते जा रहे हैं। जिस प्रकार अपराधी या अपराधी प्रवृत्ति के बच्चों के लिए सुधारघर ईलाज नहीं है, उसी प्रकार गुमशुदा हुए बच्चों की खोज मात्र पुलिस की जिम्मेदारी नहीं। गुमशुदा हुए बच्चों को राष्ट्रीय समस्या कह देने पर इसकी गुरुता कम हो जाती है। समस्या तो उन मांओं की है जो कुहरती रहती हैं। जिन्दा या मुर्दा, अपना बच्चा चाहती हैं। बच्चों की भयावह स्थितियों की कल्पना कर स्वयंसेवी संस्थाएं जो बच्चों के विकास कार्य में लगी हैं, इन्हें माताओं के मन को भी समझना चाहिए। उनकी काउंसिलिंग करना चाहिए।

(साभार : स्वदेश)

□ □ □



विस्थापन के मर्ज से कराहते शहर

● पंकज चतुर्वेदी

2011 की जनगणना के आंकड़े गवाह हैं कि गांव छोड़ कर शहर की ओर जाने वालों की संख्या बढ़ रही है और अब 37 करोड़ 70 लाख शहर के बाशिंदे हैं। सन् 2001 और 2011 के आंकड़ों की तुलना करें तो पाएंगे कि इस अवधि में शहरों की आबादी में नौ करोड़ दस लाख का इजाफा हुआ, जबकि गांवों की आबादी नौ करोड़ पांच लाख बढ़ी।

आजादी के बाद, भारत की सबसे बड़ी त्रासदी किसको कहा जा सकता है? यदि इस सवाल का जवाब ईमानदारी से खोजा जाए तो वह होगा- कोई पचास करोड़ लोगों का अपने पुशतेनी घर, गांव, रोजगार से पलायन और 'आने वाले दिनों की सबसे भीषण त्रासदी क्या होगी'? आर्थिक-सामाजिक ढांचे में बदलाव का अध्ययन करें तो जवाब होगा- पलायन से उपजे शहरों का 'अरबन-स्लम' में बदलना। 2011 की जनगणना के आंकड़े गवाह हैं कि गांव छोड़ कर शहर की ओर जाने वालों की संख्या बढ़ रही है और अब 37 करोड़ 70 लाख शहर के बाशिंदे हैं। सन् 2001 और 2011 के आंकड़ों की तुलना करें तो पाएंगे कि इस अवधि में शहरों की आबादी में नौ करोड़ दस लाख का इजाफा हुआ, जबकि गांवों की आबादी नौ करोड़ पांच लाख बढ़ी।

देश के सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी में सेवा क्षेत्र का योगदान 60 फीसदी तक पहुंच गया है, जबकि खेती का योगदान दिनोंदिन घटते हुए 15 प्रतिशत तक रहा गया है। हालांकि गांवों की आबादी अब भी लगभग 68.84 करोड़ है यानी देश की कुल आबादी अब भी उस क्षेत्र में रह रही है जहां की जीडीपी शहरों की तुलना में छठा हिस्सा भी नहीं है। यही कारण है कि गांवों में जीवन-स्तर में

गिरावट, शिक्षा, स्वास्थ्य, मूलभूत सुविधाओं का अभाव और रोजगार की कमी है। यही वजह है कि लोग बेहतर जीवन की तलाश में शहरों की ओर जा रहे हैं।

इसके चलते राजधानी दिल्ली में जनसुविधाएं, सार्वजनिक परिवहन और सामाजिक ढांचा- सब कुछ बुरी तरह चरमरा गया है। कुल 1483 वर्ग कि.मी. में फैले इस महानगर की आबादी कोई सवा करोड़ से अधिक हो चुकी है। हर रोज तकरीबन पांच हजार नए लोग यहां बसने आ रहे हैं। अब यहां का माहौल और अधिक भीड़ को झेलने में कतई समर्थ नहीं है। ठीक यही हाल देश के अन्य सात महानगरों, विभिन्न प्रदेश की राजधानियों और औद्योगिक बस्तियों का है। इसके विपरीत गांवों में ताले लगे घरों की संख्या में दिनोंदिन इजाफा हो रहा है। देश की अर्थव्यवस्था का कभी मूल आधार कही जाने वाली खेती और पशु-पालन के व्यवसाय पर अब मशीनधारी बाहरी लोगों का कब्जा हो रहा है। उधर रोजगार की तलाश में गए लोगों के रंगीन सपने तो चूर हो चुके हैं, पर उनकी वापसी के रास्ते जैसे बंद हो चुके हैं। गांवों के टूटने और शहरों के बिगड़ने से भारत के पारंपरिक सामाजिक और आर्थिक संस्कारों का चेहरा विद्रूप हो गया है। परिणामतः भ्रष्टाचार, अनाचार, अव्यवस्थाओं का बोलबाला है।



शहर का आकर्षण भी दिवास्वप्न से ज्यादा नहीं है। देश के दीगर 9735 शहर भले ही आबादी से लबालब हों, लेकिन उनमें से मात्र 4041 को ही सरकार दस्तावेज में शहर की मान्यता मिली है। शेष 3894 शहरों में शहर नियोजन या नगर पालिका तक नहीं है। यहां बस खेतों को उजाड़ कर बेढब अधपक्के मकान खड़े कर दिए हैं जहां पानी, सड़क, बिजली आदि गांवों से भी बदतर है। वहीं हर साल पचास हजार करोड़ कीमत की खाद्य सामग्री हर साल माकूल रखरखाव के अभाव में नष्ट हो जाती है और सरकार को इसकी फिक्र तक नहीं होती। बीते साल तो सुप्रीम कोर्ट भी कह चुका कि यदि गोदामों में रखे अनाज को सहेज नहीं सकते हो तो उसे गरीबों में बांट दो, लेकिन इसके लिए हुकरामन तैयार नहीं है। विकास और सब्सिडी का बड़ा हिस्सा शहरी आबादी के बीच बांटने में विषमता की खाई बड़ी होती जा रही है।

शहरीकरण की त्रासदी केवल वहां के बाशिंदे ही नहीं झेलते हैं, बल्कि उन गांवों को अधिक वेदना सहनी होती है जिन्हें उदरस्थ कर शहर के सुरसा-मुख का विस्तार होता है। शहरों, गांवों कर संस्कृति, सभ्यता और पारंपरिक सामाजिक ढांचे के क्षरण के तो जिम्मेदार होते ही हैं, गांव की अर्थनीति के मूल आधार खेती को चौपट भी करते हैं। किसी शहर को बसाने के लिए आसपास के गांवों के खेतों की बेशकीमती मिट्टी को होम किया जाता है। खेत उजड़ने पर किसान या तो शहरों में मजदूरी करने लगता है या फिर मिट्टी की तात्कालिक अच्छी कीमत हाथ आने पर कुछ दिन तक ऐश करता है। फिर आने वाले पीढ़ियों के लिए दुर्भाग्य के दिन शुरू हो जाते हैं।

कोई एक दशक पहले दिल्ली नगर निगम द्वारा कराए गए एक सर्वेक्षण की रिपोर्ट महान चिंतक कार्ल मार्क्स की उस चर्चित उक्ति की पुष्टि करती है, जिसमें उन्होंने कहा था कि अपराध, वेश्यावृत्ति तथा अनैतिकता का मूल कारण भूख व गरीबी होता है। निगम के स्लम तथा जुवेनाइल जस्टिस विभाग की रिपोर्ट में कहा गया है कि

राजधानी में अपराधों में ताबड़तोड़ बढ़ोत्तरी के सात मुख्य कारण हैं- अवांछित पर्यावरण, उपेक्षा तथा गरीबी, खुले आवास बड़ा परिवार, अनुशासनहीनता व नई पीढ़ी का बुजुर्गों के साथ अंतर्विरोध और नैतिक मूल्यों में गिरावट। वास्तव में यह रिपोर्ट केवल दिल्ली ही नहीं अन्य महानगरों और शहरों में भी बढ़ते अपराधों के कारणों का खुलासा करती है। ये सभी कारक शहरीकरण की त्रासदी की सौगात हैं।

गांवों में ही उच्च या तकनीकी शिक्षा के संस्थान खोलना, स्थानीय उत्पादों के मद्देनजर ग्रामीण अंचलों में छोटे उद्योगों को बढ़ावा देना, खेती के पारंपरिक बीज, खाद और दवाओं को प्रोत्साहित करना- ये कुछ ऐसे उपाय हैं जिनको आजमाकर गांवों से युवाओं के पलायन को रोका जा सकता है। इस राष्ट्रीय समस्या के निदान में पंचायत समितियां अहम भूमिका निभा सकती हैं। पंचायत संस्थाओं में आरक्षित वर्गों की सक्रिय भागीदारी कुछ हद तक सामंती शोषण पर अंकुश लगा सकती हैं, जबकि पानी, स्वास्थ्य, सड़क, बिजली सरीखी मूलभूत जरूरतों की पूर्ति का जिम्मा स्थानीय प्रशासन को संभालना होगा।

विकास के नाम पर मानवीय संवेदनाओं में अवांछित दखल से उपजती आर्थिक विषमता, विकास और औद्योगिकीकरण की अनियोजित अवधारणाएं और पारंपरिक जीवकोपार्जन के तौर-तरीकों में बाहरी दखल-शहरों की ओर पलायन को प्रोत्साहित करने वाले तीन प्रमुख कारण हैं। इसके लिए सरकार और समाज दोनों को साझा तौर पर आज और अभी चेतना होगा। अन्यथा कुछ ही वर्षों में मौजूदा हालात देश की सबसे बड़ी समस्या का कारक बनेंगे- जब प्रगति की कहानी कहने वाले महानगर बेकार, लाचार और कुंठित लोगों से ठसाठस भरे होंगे, जबकि देश का गौरव कहे जाने वाले गांव मानव संसाधन विहीन होकर पंगु हो जाएंगे।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)

□ □ □



स्तरीय शिक्षा बिना अधूरी तस्वीर

● शशांक द्विवेदी

अमेरिका, चीन, जापान, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, दक्षिण कोरिया, ताईवान, सिंगापुर, मलेशिया, हांगकांग, ऑस्ट्रेलिया आदि देशों की आर्थिक प्रगति को उनकी विश्वस्तरीय उच्च शिक्षा को जोड़कर ही समझा जा सकता है। विकास से जुड़े विभिन्न मामलों पर जब भी एशिया की चर्चा होती है, तो चीन और भारत की तुलना स्वाभाविक रूप से की जाती है। प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक पत्रिका द इकोनोमिस्ट ने एशिया की दोनों प्रमुख ताकतों का विकास के विभिन्न मुद्दों मसलन शिक्षा, स्वास्थ्य, तकनीकी विकास आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया। जिसमें हर स्तर और आयाम में चीन अब भी भारत से काफी आगे है। भारत जिस स्तर पर आज है, उसे चीन सालों पहले हासिल कर चुका है।

दे | श-समाज के विकास में उच्च और तकनीकी शिक्षा का सबसे बड़ा योगदान होता है। तमाम ताकतवर व समृद्ध देशों की सफलता का बड़ा कारण विश्वस्तरीय उच्च शिक्षा ही है। अमेरिका, चीन, जापान, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, दक्षिण कोरिया, ताईवान, सिंगापुर, मलेशिया, हांगकांग, ऑस्ट्रेलिया आदि देशों की आर्थिक प्रगति को उनकी विश्वस्तरीय उच्च शिक्षा को जोड़कर ही समझा जा सकता है। विकास से जुड़े विभिन्न मामलों पर जब भी एशिया की चर्चा होती है, तो चीन और भारत की तुलना स्वाभाविक रूप से की जाती है। प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक पत्रिका द इकोनोमिस्ट ने एशिया की दोनों प्रमुख ताकतों का विकास के विभिन्न मुद्दों मसलन शिक्षा, स्वास्थ्य, तकनीकी विकास आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया। जिसमें हर स्तर और आयाम में चीन अब भी भारत से काफी आगे है। भारत जिस स्तर पर आज है, उसे चीन सालों पहले हासिल कर चुका है। विश्वस्तरीय उच्च शिक्षा विकसित करने के मामले में भी चीन हमसे बहुत आगे है।

1949 में चीन और 1947 में भारत की उच्च शिक्षा

का रूप बहुत सीमित था। 1949 में चीन में 205 विश्वविद्यालय और 1947 में भारत में 26 विश्वविद्यालय थे। 1990 में चीनी अर्थव्यवस्था में आई तेजी के बाद कॉलेज व विश्वविद्यालयों को उभरने और विकसित होने का मौका दिया गया। आज चीन में दो हजार से अधिक विश्वविद्यालय व संस्थान उच्च शिक्षा, तकनीकी, प्रबंधन और चिकित्सा की गुणवत्तापूर्ण पढ़ाई के लिए जाने जाते हैं, जहां पढ़ने के लिए विदेशी छात्र आकर्षित हो रहे हैं। चीन के उच्च शिक्षा मंत्रालय द्वारा जारी आंकड़ों के मुताबिक यहां 2011 में विदेशी छात्रों की संख्या 2.60 लाख थी। पिछले 20 सालों में चीन की सरकार ने अपने कुछ विश्वविद्यालयों जैसे बीजिंग, सिनहुआ, शंघाई, जिओटांग और फूडान आदि को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर खड़ा किया, जिनकी विश्व रैंकिंग है।

देश में उच्च शिक्षा की स्थिति पर बात करें तो शिखर पर कुछ केन्द्रीय विश्वविद्यालय, आई.आई.टी., आई.आई.एम., एम्स, एनआईटी जैसी सौ संस्थाएं हैं, जिनमें मुश्किल से एक लाख विद्यार्थी पढ़ते हैं। दूसरी तरफ



538 विश्वविद्यालय और 26478 उच्चशिक्षा संस्थानों में 1.60 करोड़ युवा भीड़ की तरह पढ़ने-लिखने की कवायद भर करते हैं। ग्रास एनरोलमेंट के लिहाज से यह 12 प्रतिशत है जो ग्लोबल एवरेज से काफी कम है। जबकि केन्द्र सरकार ने 2020 तक 30 प्रतिशत एनरोलमेंट का लक्ष्य रखा है। देश में संस्थानों की भीड़ बढ़ाने के लिए तीस वर्षों में अनेक निजी संस्थान और डीम्ड विश्वविद्यालय खुले हैं, जिनका कोई मानक और स्तर नहीं है। इसी वजह से तकनीकी शिक्षा के मौजूदा सत्र में इस बार पूरे देश में ढाई लाख से ज्यादा सीटें खाली रह गई थी। 153 विश्वविद्यालयों तथा 9875 कॉलेजों में पर्याप्त बुनियादी ढांचा ही नहीं है।

चीन ने शिक्षा प्रणाली में दो-तीन दशकों के किए बदलावों से अपनी संपूर्ण शिक्षा व्यवस्था को बदल दिया है। वहां तकनीकी और उच्च शिक्षण संस्थानों की संख्या वृद्धि के साथ-साथ गुणवत्ता में भी उत्तरोत्तर सुधार हुआ है। उसने 1990 के मध्य में प्राजेक्ट 211 के अंतर्गत विश्व-स्तरीय विश्वविद्यालयों, उच्च संशोधनों और तकनीकी हब की बड़ी श्रृंखला तैयार की है। चीन जानता है कि आर्थिक सर्वश्रेष्ठता बेहतर तकनीकी शिक्षा, शोध और विकास पर ही निर्भर है। 1995 से 2005 के बीच वहां पीएचडी करने वालों की संख्या पांच गुना बढ़ी है। पीएचडी ही नहीं, बल्कि शोध पत्रों व पेटेंट के मामले में भी हम चीन से काफी पीछे हैं। इसी पर संसद की प्राक्कलन समिति ने पिछले दिनों लोकसभा में प्रस्तुत अपनी 17वीं रिपोर्ट में देश में उच्च शिक्षा की हालत पर गहरी चिंता जताई है। सैम पित्रोदा के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय ज्ञान आयोग (एनकेसी) ने स्वीकारा है कि भारत में उच्च शिक्षा का संकट बहुत गहरा है।

पिछले दिनों क्यू एस वर्ल्ड यूनिवर्सिटी रैंकिंग में दुनिया के शीर्षस्थ 200 विश्वविद्यालयों की सूची में किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय या उच्च शिक्षा की तीन लोकप्रिय रैंकिंग शोध की गुणवत्ता, शैक्षणिक प्रतिष्ठा और नियोक्ताओं

की साख के आधार पर किया जाता है। कुछ लोगों इस तरह की रैंकिंग नहीं मानने का दावा कर सकते हैं लेकिन वैश्वीकरण और खुली अर्थव्यवस्था के इस दौर में विश्व स्तर पर प्रतिस्पर्धा तो होगी ही। इस रैंकिंग की एशिया के 200 शीर्षस्थ विश्वविद्यालयों की सूची में जापान, चीन, दक्षिण कोरिया और ताईवान का प्रभुत्व दिखाता है। भारत एशिया की सूची में पांचवें स्थान पर है। चीन और दक्षिण कोरिया को एशिया की सूची में 50 प्रतिशत स्थान मिलना भारत के लिए बड़ा सबक है, क्योंकि 63 वर्ष पूर्व तीनों देश उच्च शिक्षा के मामले में लगभग एक स्तर पर आंके जाते थे। आज विश्व में जो उच्च शिक्षण संस्थान शिखर पर आसीन हैं, उनसे हमें सीखना होगा। विचार करना होगा कि क्या हम अगले 20 संस्थान बना सकते हैं? आधुनिक ज्ञान आधारित वैश्विक अर्थव्यवस्था में पूर्ण क्षमता का दोहन करने के लिए भारत को प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों की आवश्यकता है, क्योंकि उच्च शिक्षा का संकट भारत के भविष्य को सीधे-सीधे प्रभावित करेगा।

वास्तव में मौजूदा नीतियों के आधार पर विश्वस्तरीय संस्थान खड़े करना असंभव होगा। कुछ आईआईटी और आईआईएम के भरोसे हम विकसित राष्ट्र का सपना सच नहीं कर सकते। देश में तकनीकी शिक्षा की कुल सीटों में 95 फीसदी निजी कॉलेजों में है। शेष 5 फीसदी में आई.आई.टी., एनआईटी, ट्रिपल, आईआईटी हैं जहां एडमिशन के लिए बड़ी होड़ है लेकिन देश के विकास के लिए बाकी 95 प्रतिशत कॉलेजों को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। हमें विश्वस्तरीय संस्थान खड़े करने के लिए एक ऐसी राष्ट्रीय नीति की जरूरत है, जो गुणवत्ता, पारदर्शिता, स्वायत्तता, विकेंद्रीकरण, जवाबदेही, विविधता और विश्व दृष्टि जैसे मूल्यों पर आधारित हो। देश के युवाओं को व्यवहारिक और रोजगारनक तकनीकी ज्ञान मिले, जिसे देश की परिस्थितियों के हिसाब से प्रयोग किया जा सके।

(साभार : राष्ट्रीय संहारा)

□ □ □



पुलिस में महिलाओं की तादाद बढ़ाने की है आवश्यकता

● राखी रघुवंशी

घरों में होने वाली हिंसा में भी मध्यप्रदेश पिछले 10 वर्षों से देश में पहले स्थान पर है। प्रदेश में प्रति डेढ़ घंटे में एक नाबालिग युवती लापता होती है। मध्यप्रदेश बाल एवं महिला व्यापार के नए सुरक्षित क्षेत्र के रूप में उभर रहा है। आंकड़ों में उलझी प्रदेश सरकार महिलाओं के लिए घोषणाओं का पुलिंदा उतारकर उन्हें सुरक्षा के सब्जबाग दिखा रही है, जबकि वास्तविक स्थिति तो इससे बहुत उलट है, जो हर सर्वे में उजागर हो रही है। माजरा कुल मिलाकर यह है कि प्रदेश की महिलाएं सुरक्षा को लेकर कभी उतनी चिंतित नहीं थीं, जितनी कि आज दिखती हैं।

भा | रतीय समाज में नारी की समानता व स्वतंत्रता का समाप्त होने कब शुरू हुआ, इसका ठीक-ठीक समय निर्धारित करना कठिन है। वैदिक काल और ऋषि-मुनियों के आश्रमों के जमाने में नर-नारी के बीच के भेद के प्रकरण लगभग नहीं ही मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सामंतवाद और जातिवाद के उद्भव के साथ ही साथ नारी को भी दास, संपत्ति और भोग्या मानने का चलन प्रारंभ हुआ होगा।

सामंतवादी व्यवस्था और जातिवादी व्यवस्था ने, जो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जिस प्रकार समाज के बहुसंख्यक शुद्रों (?) को कमाने वाले दासों में बदला, उसी प्रकार नारी को भी कमजोर, पुरुष-सेवक दासी के रूप में बदल दिया। भले ही हम कितनी भी चीख-पुकार के साथ महिला दिवस मनाएं या फिर रैली निकालकर अपनी शक्ति-ताकत का प्रदर्शन करें, लेकिन मध्यप्रदेश में महिलाओं की स्थिति आंकड़ों के अनुसार कुछ और ही बयान करती है।

एक सर्वेक्षण के अनुसार “महिलाओं की सुरक्षा संबंधी इंडेक्स” में प्रदेश को सबसे अधिक खराब स्थिति में

पाया गया। हालांकि, यह आश्चर्य नहीं कि दिल्ली में 16 दिसम्बर 2012 को हुई सामूहिक बलात्कार की घटना के बाद तो अखबारों में हर दूसरे दिन हमें प्रदेश में महिलाओं के साथ हो रहे बलात्कार और हिंसा की खबरें पढ़ने को मिल रही हैं। टाटा स्ट्रेटजिक मैनेजमेंट समूह द्वारा 33 राज्यों में किए गए इस सर्वे में प्रदेश का स्थान 29वें नंबर पर है। इनमें बच्चों में बिगड़ता लिंगानुपात, महिलाओं के विरुद्ध हिंसा और दहेज हत्या के सूचक शामिल थे। सर्वेक्षण के अनुसार तो कई मामले तो पंजाब और हरियाणा के सूचक मध्यप्रदेश से बेहतर हैं। लगातार होते बलात्कार, सामूहिक बलात्कार, छेड़छाड़ की निरंतर बढ़ती घटनाएं यानी प्रदेश दिन-प्रतिदिन असुरक्षित होता चला जा रहा है। बेटमा में सामूहिक बलात्कार, देपालपुर में मूक-बधिर महिला के साथ बलात्कार, इंदौर के समीप गैंगरेप जैसे किस्सों ने हर आठ दिन के अंदर इसी मध्यप्रदेश में दस्तक दी है। दतिया का प्रकरण भी एकदम ताजा है।

घरों में होने वाली हिंसा में भी मध्यप्रदेश पिछले 10 वर्षों से देश में पहले स्थान पर है। प्रदेश में प्रति डेढ़ घंटे



में एक नाबालिग युवती लापता होती है। मध्यप्रदेश बाल एवं महिला व्यापार के नए सुरक्षित क्षेत्र के रूप में उभर रहा है। आंकड़ों में उलझी प्रदेश सरकार महिलाओं के लिए घोषणाओं का पुलिंदा उतारकर उन्हें सुरक्षा के सब्जबाग दिखा रही है, जबकि वास्तविक स्थिति तो इससे बहुत उलट है, जो हर सर्वे में उजागर हो रही है। माजरा कुल मिलाकर यह है कि प्रदेश की महिलाएं सुरक्षा को लेकर कभी उतनी चिंतित नहीं थीं, जितनी कि आज दिखती हैं।

सरकार से शायद आज भी उन्हें कोई व्यक्तिगत शिकायत नहीं है और न ही उसकी प्रतिबद्धता पर कोई शंका, लेकिन जब अपनी ही धरती पर आबरू कलंकित हो जाए, तो भला न्याय की गुहार लेकर वे किसके पास जाएं? यह हाल केवल प्रदेश या फिर देश का ही नहीं है, बल्कि दुनिया भर का भी यही हाल है। विश्व में लगभग 70 प्रतिशत महिलाएं किसी न किसी प्रकार की हिंसा की शिकार होती हैं। 15 से 44 वर्ष की उम्र की जितनी महिलाओं की मौतें मलेरिया, कैंसर आदि बीमारियों या हादसों से नहीं होती, उससे कई गुनी ज्यादा मौतें उन पर होने वाली हिंसा से होती हैं। 1993 में यूनाइटेड नेशन की सामान्य सभा में महिलाओं पर हो रही हिंसा को खत्म करने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया गया था। इस प्रस्ताव में यह बात स्पष्ट है कि महिलाओं के साथ होने वाली हिंसा से उनके मानवाधिकारों का हनन होता है।

राष्ट्रीय महिला आयोग की वेबसाइट के अनुसार भारत में महिलाओं के लिए 48 कानून बनाए गए हैं। हालांकि, महिलाओं पर हिंसा रोकने के लिए तमाम तरह के कानून मौजूद हैं। घरेलू हिंसा की रोकथाम के लिए कानून, दहेज निषेध संबंधी नए कानून, कार्यस्थलों पर महिला उत्पीड़न रोकने के लिए सुप्रीम कोर्ट के दिशा-निर्देश आदि। इन दिनों एक नया कानून भी चर्चा में है, जो शायद बनकर रहेगा। फिर भी, उन पर हिंसा का सिलसिला थमा नहीं है।

जहां तक ओर कानूनों में कई तरह की खामियां हैं, तो वहीं दूसरी ओर उन्हें सही तरीके व सख्ती से लागू नहीं

किया जाता। नतीजन, अपराधी न केवल साफ-साफ बच निकलते हैं, बल्कि उनके हौसले और भी बढ़ जाते हैं। पुलिस पर सभी नागरिकों की सुरक्षा की जिम्मेदारी है, लेकिन महिलाओं के खिलाफ हिंसा के अधिकतर मामलों में उसका रवैया बेहद लचर और लापरवाही वाला रहता है। वह ऐसे मामलों को दर्ज करने में प्रायः आनाकानी ही करती है, तो फिर जांच में कोताही बरती जाती है। कुछ भ्रष्ट पुलिसकर्मी व अधिकारी मामले पर परदा डालने में कोई कसर नहीं छोड़ते। देखा गया है कि ऐसे मामलों की रिपोर्ट दर्ज कराने में महिलाएं और उनके परिजन हिचकिचाते भी हैं। एक अनुमान के मुताबिक पुलिस ऐसे कुल मामलों में से केवल पांच प्रतिशत मामले ही दर्ज करती है?

महिलाओं पर हिंसा के मामलों में दोषसिद्धि कम होना दूसरा चिंताजनक पहलू है, जिसके लिए पुलिस और प्रशासन की अकर्मण्यता को ही जिम्मेदार माना जा सकता है। फिर, न्यायिक-प्रक्रिया में भी बहुत विलंब होता है। एक अध्ययन के अनुसार आईपीसी के 32 प्रतिशत प्रकरणों के निपटारे में अदालतों को एक से तीन साल तक का समय लग जाता है, जबकि 22 प्रतिशत केसों में पांच साल। ऐसे में हिंसा की शिकार महिलाओं को कितना और कैसा इंसाफ मिलेगा, इसकी कल्पना भर की जा सकती है।

महिलाओं पर होने वाले अपराधों की जांच संवेदनशील तरीके से की जानी चाहिए, जो पुलिस महामके में पर्याप्त संख्या में महिला पुलिसकर्मियों की तैनाती से ही संभव है। वर्ष-2008 तक देश में महिला पुलिसकर्मियों की वास्तविक संख्या मात्रा 57 हजार 466 थी। वे भी अकसर बड़े शहरों और सीबीआई के विशेष दस्तों में तैनात रहीं। यदि जमीनी स्तर पर महिला पुलिसकर्मी पर्याप्त संख्या में हों और उन्हें संवेदनशील तरीके से जांच का समुचित प्रशिक्षण दिया जाए, तो सकारात्मक नतीजे हासिल किए जा सकते हैं। मगर, सरकारें यह नहीं करतीं, बल्कि एक नया कानून बना देती हैं, जिससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

(साभार : राज एक्सप्रेस)

□ □ □



महिलाओं की सुरक्षा के लिए मौजूद कानूनों का पालन कराने पर अधिक ध्यान देने की जरूरत

अकेले कानून बनाने से बात नहीं बनेगी

● मधु किश्वर

समानता के नाम पर ऐसे एकपक्षीय कानून की मांग करना क्या महिलाओं के लिए खुद का मखौल उड़ाने जैसा नहीं होगा? वैसे भी ऐसे कानून केवल भ्रष्ट पुलिसकर्मियों और वकीलों के लिए फायदेमंद होते हैं।

वर्ष 1961 में अंग्रेजों द्वारा लागू भारतीय दंड संहिता अपने औपनिवेशिक पूर्वाग्रह के बावजूद स्वतंत्रता के बाद बनाए गए तमाम कानूनों से बेहतर है, खासकर उन कानूनों से, जो महिलाओं के लिए बनाए गए हैं। जैसे ही कोई कानून उम्मीदों पर खरा नहीं उतरता है, मीडिया की सुर्खियां पाने की हसरत रखने वाले गैर सरकारी संगठनों के समूह इसकी समीक्षा के बदले इसके प्रावधानों को और कड़ा बनाने के लिए अभियान छेड़ देते हैं। सरकार भी पुराने कानून में ही कुछ नए और कठोर प्रावधान जोड़ने में पीछे नहीं रहती। कारावास की अवधि में इजाफा, अपराध को गैर-जमानती घोषित करना, आरोप गलत साबित करने की जिम्मेदारी आरोपी के ऊपर डालने और कानूनसम्मत प्रक्रिया को दरकिनार और मीडिया को चुप करने में कामयाब रहती है। साथ ही, इसके जरिये वह मौजूदा कानून का ईमानदार क्रियान्वयन सुनिश्चित कराने में अपनी विफलता से लोगों का ध्यान हटाने में भी सफल रहती है।

चूंकि ये कानून तात्कालिक प्रतिक्रिया का नतीजा होते हैं, इसलिए इससे पहले कि महिलाएं इनके प्रावधानों और लक्ष्यों को अच्छी तरह समझें, उनकी उपयोगिता खत्म हो जाती है। इसके बावजूद कानून सुधार की मांग करने वाले इसमें और संशोधन की मांग करने से बाज नहीं आते। दहेज निषेध, घरेलू हिंसा, मीडिया में महिलाओं को

अश्लील तरीके से पेश किए जाने, भ्रूण हत्या संबंधी कानूनों का यही हथ्र हुआ है। कई बार ऐसा हुआ है, जब कानून बनाने वाले अपराध को सही और स्पष्ट तरीके से परिभाषित करें, इससे पहले ही कानून लागू कर दिया जाता है।

दुष्कर्म के खिलाफ कानून का ही उदाहरण लीजिए। हैदराबाद पुलिस थाने में एक जवान लड़की के साथ दुष्कर्म के बाद महिला अधिकार कार्यकर्ताओं के दबाव में वर्ष 1983 में इसमें संशोधन किया गया था। संशोधन के बाद दुष्कर्म के मामले में न्यूनतम कारावास की अवधि बढ़ाकर 7 साल हो गई और पुलिस हिरासत में दुष्कर्म के दोषियों के लिए कारावास की न्यूनतम अवधि 10 साल करा दी गई। दुष्कर्म के चलते मौत के मामलों में आजीवन कारावास और मृत्यु दंड का भी प्रावधान है, लेकिन इनमें से कोई भी प्रावधान महिलाओं के खिलाफ सेक्स अपराधों पर लगाम कसने में सफल नहीं रहा। इसके उलट ऐसे अपराध पहले से ज्यादा और वीभत्स हो गए हैं। सुनसान इलाकों या घर की चहारदीवारी के अंदर दुष्कर्म की वारदातों पर रोक तो दूर की बात है, सरकारी मशीनरी पुलिसों थानों और अस्पतालों में भी ऐसी घटनाओं को कम करने में असफल रही है।

कानूनों के दुरुपयोग पर भी गौर करना जरूरी है।



हाल के दिनों में ऐसे कई मामले देखने को मिले हैं, जिनमें महिला अपने प्रेमी या लिव-इन पार्टनर पर दुष्कर्म का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार कराने में कामयाब रही है। यह कहना कि शरीरिक संबंध बनाने के बाद कोई पुरुष किसी महिला के वादे के अनुसार शादी करने या उसे नौकरी देने के लिए कानूनी रूप से बाध्य है और ऐसा नहीं करने पर उसे 10-20 साल की जेल होनी चाहिए, आग से खेलने जैसा है। क्या हम यही तर्क उन महिलाओं के लिए भी दे सकते हैं, जो किसी पुरुष से प्यार करने और शादी का वादा करने के बाद अपना इरादा बदल लेती हैं? समानता के नाम पर ऐसे एकपक्षीय कानून की मांग करना क्या महिलाओं के लिए खुद का मखौल उड़ाने जैसा नहीं होगा? वैसे भी ऐसे कानून केवल भ्रष्ट पुलिसकर्मियों और वकीलों के लिए फायदेमंद होते हैं।

हालात पहले जैसे ही बने रहते यदि दिल्ली में दुष्कर्म की कुछ जघन्य वारदातों के बाद टीवी चैनल हरकत में नहीं आए होते। मुद्दा इतना गर्म होग गया कि घबराकर सरकार ने विधि विशेषज्ञों के नेतृत्व में एक विशेष आयोग का गठन कर दिया। आयोग ने भी घबराहट में ही 30 दिनों के अंदर न केवल भारी-भरकम रिपोर्ट जमा कर दी, यह मांग भी कर दी कि नए दुष्कर्म कानून में देरी से बचने के लिए उनकी अनुशंसाओं को अध्यादेश में तब्दील कर दिया जाए। रिपोर्ट जमा करने से 48 घंटे पहले पब्लिक हियरिंग भी केवल औपचारिकता थी, क्योंकि कानून में बदलाव की मांग करने वाले नारीवादी समूह पहले ही सारा मसाला आयोग को सुपुर्द कर चुके थे।

यूपीए सरकार पर तरस आ रहा है, क्योंकि उसे दबाव में काम करना पड़ रहा है और भविष्य में उसे ऐसी शर्मिंदगी का सामना नहीं करना पड़े, इसके लिए मैं एक सलाह देने चाहूंगी। नए दुष्कर्म कानून के साथ यूपीए सरकार एक और नया कानून बनाए, जिसमें यह प्रावधान हो कि महिलाएं हर समय उनकी सुरक्षा से संबंधित हरेक कानून की प्रति अपने पास रखें। ये प्रतियां स्थानीय हरेक

कानून की प्रति अपने पास रखें। ये प्रतियां स्थानीय मजिस्ट्रेट से सत्यापित हों, जिससे जैसे ही कोई किसी महिला को नुकसान पहुंचाने, उसे मारने-पीटने, दुष्कर्म करने या उसकी अस्मिता को भंग करने की कोशिश करे, वह पूरे विश्वास के साथ इसके सत्य होने की दुहाई दे सके। यदि कानूनों की प्रतियां महिला के पास मौजूद नहीं हों तो कम से कम उसे पुलिस की मदद लेने को आयोग्य घोषित कर दिया जाना चाहिए। इसकी वजह यह कि कानून की प्रतियां साथ नहीं रखने का सीधा मतलब सरकार के प्रति अविश्वास तथा अवमानना और तथाकथित कानून में भरोसे की कमी है। इससे महिलाओं के खिलाफ होने वाले अपराध भले कम न हों, पुलिस स्टेशन जाकर मामला दर्ज कराने वाली महिलाओं की संख्या जरूर कम हो जाएगी।

यदि कोई महिला खास उसकी सुरक्षा के लिए बने इन कानूनों के होने भर से मजबूत होने का अनुभव नहीं करती तो उसे प्रमाणित गैर सरकारी संगठनों द्वारा खास ट्रेनिंग दिए जाने की जरूरत है। इसके लिए सरकार को 50 हजार करोड़ रुपए के एक फंड की व्यवस्था करनी चाहिए, जिसका इस्तेमाल उन नारीवादियों को भारी-भरकम अनुदान देने में किया जाए, जो सरकार के राजनीतिक नजरिये के माकूल हों। इसके बदले वे महिलाओं को कानूनी ज्ञान, मनोवैज्ञानिक काउंसिलिंग तथा मुश्किल परिस्थितियों में विश्वास के साथ कानून लहराने की ट्रेनिंग देंगे।

एक बार सरकार इन सरकार इन नारीवादी समूहों को महिला सशक्तीकरण में साझेदारी बना लेती है, तो वे असंतुष्ट नागरिकों के रोष से सरकार की बेहतर तरीके से रक्षा कर पाएंगे। यदि यह कदम भी कारगर नहीं होता तो, हम सबको मिलकर अंग्रजों से एक निश्चित समय के लिए दोबारा भारत आने और हम कानूनों के 21वीं सदी के लोकतांत्रिक भारत की जरूरतों के अनुरूप बनाने का आग्रह करना चाहिए, क्योंकि हम अपने दम पर ऐसा करने में नाकाम रहे हैं।

(साभार : दैनिक भास्कर)

□ □ □



‘जल-शिक्षित’ होने की जरूरत

● सुनीता नारायण

यह देखना वाकई दुखद है कि एक समाज और एक सभ्यता कितनी तेजी से अपनी मेधा को विस्मृत कर देती है। आज विश्व जल दिवस के अवसर पर हम प्रण लें कि अपनी जल-मेधा को पुनः अर्जित करेंगे। हम अपने परंपरागत ज्ञान को पुनः प्राप्त करेंगे। केवल तभी हम सही मायनों में जल-शिक्षित कहला सकेंगे।

आने वाले वक्त में भारत एक समृद्ध देश बनता है या निर्धन ही बना रहता है, यह पानी पर निर्भर करेगा। लेकिन पानी का प्रबंधन करने का मतलब केवल इतना भर नहीं है कि ज्यादा से ज्यादा बांध बना दिया जाए और पाइपलाइनों के जरिए उस पानी को हमारे शहरों तक ले आया जाए और फिर पाइपलाइनों की ही मदद से हमारे घर का मैला फ्लश कर दिया जाए। पानी के प्रबंधन का वास्तविक अर्थ है समाज का अपनी जल-संरचनाओं से एक आत्मीय संबंध निर्मित करना, ताकि हम बारिश के पानी की हर बूंद का महत्व समझ सकें और इस बात को समझें कि यदि हमने इस बेशकीमती संपदा का मोल नहीं समझा तो जल्द ही हमारी धरती पर सभी लोगों के लिए पर्याप्त पानी नहीं होगा।

इस मायने में जल-प्रबंधन एक सामाजिक परिघटना है। यह जिम्मेदारी समाज की होती है कि वह ऐसी तकनीकी बनाए ताकि उपलब्ध जल का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके और इससे भी जरूरी बात यह कि वह ऐसी तकनीक बनाए, जो उपलब्ध जल को सभी के साथ साझा कर सके और इसलिए हमें अपने अतीत के दिनों की जल-मेधा को पुनः अंगीकार करने की जरूरत है। 1990 के दशक में सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरमेंट (सीएसई)

ने एक पुस्तक प्रकाशित की थी: ‘डाइंग विज्डम: द राइज, फॉल एंड पोटेण्शियल ऑफ इंडियाज ट्रेडिशनल वाटर हार्वेस्टिंग सिस्टम्स’। इस किताब में भारत में विभिन्न पारिस्थितिकी प्रणालियों में जीवन-यापन कर रहे लोगों की जल-प्रबंधन शैलियों की समृद्धि को ब्योरेवार दर्ज किया गया है। इनमें बर्फ के मैदानों में ग्लेशियर के पानी की हार्वेस्टिंग से लेकर पूर्वोत्तर के पर्वतीय क्षेत्रों की “बैम्बू ड्रिप” सिंचाई पद्धति जैसी प्रणालियां शामिल हैं। भारत के तपते हुए रेगिस्तानी इलाकों में अपनाई जाने वाली ‘कुंडी’ प्रणाली तो सरलतम होने के साथ ही सार्वधिक प्रभावी भी है। इसमें कृत्रिम रूप से निर्मित एक भूखंड में वर्षाजल की हार्वेस्टिंग की जाती है। इस भूखंड की ढलान एक कुंए की ओर होती है, जिसमें यह अनमोल वर्षाजल सहेजा जाता है। पानी का यह गणित बहुत सीधा-सरल है: यदि एक हैक्टेयर भूमि पर सौ मिमी वर्षाजल भी सहेजा जाए, तो उससे इस संरचना में दस लाख लीटर तक पानी सहेजा जा सकता है। वहीं देश के दूसरे इलाकों में लोग बाढ़ के पानी को भी हार्वेस्ट करते हैं।

दूसरे शब्दों में कहें तो लोगों ने पानी की किल्लत और पानी की इफारत दोनों ही स्थितियों में जीना सीखा है। जिस देश में वर्ष के कुल 8760 घंटों में से केवल 100 घंटे



ही वर्षा होती है, उसके रहवासियों को वर्षाजल के संरक्षण के तरीके ईजाद करना ही होंगे। उन्हें यह सीखना ही होगा कि वर्षाजल का कैसे इस्तेमाल किया जाए और उसे इस तरह कैसे सहेजा जाए कि वह साल के बाकी दिनों में भूमिगत जलस्रोतों को रिचार्ज कर सके। इसका जवाब यही है कि वर्षाजल को भूमि के ऊपर और भूमि के नीचे जहां भी संभव हो, संग्रहित और प्रबंधित किया जाए। जहां वर्षा हो और जितनी वर्षा हो, उसके पानी को सहेजा जाए।

हमारी ये जल-परंपराएं आज के शहरी भारत के लिए सर्वाधिक प्रासंगिक हो चुकी हैं। आज हमारे शहर को बहुत दूर-दराज के इलाकों से अपने लिए पानी जुटाना पड़ता है। दिल्ली टिहरी बांध से गंगाजल पाती है, बेंगलुरु कावेरी आईवी प्रोजेक्ट पर काम कर रहा है, जिसके तहत सौ किमी के फासले से शहर के लिए पानी भेजा जाएगा, चेन्नई को तो दो सौ किमी के फासले पर मौजूद कृष्णा नदी से पानी चाहिए, हैदाराबाद को मंजीरा नदी के पानी के दरकार है, वगैराह-वगैराह। जाहिर है कि शहरी-औद्योगिक सेक्टर की पानी की मांग बढ़ती जा रही है, लेकिन जल-संरक्षण की दिशा में इस क्षेत्र द्वारा न के बराबर काम किया जाता है। वह अपनी पानी की खपत में कटौती करने को भी तैयार नहीं है। सीवेज और वेस्ट ट्रीटमेंट सुविधाओं की कमी के चलते हालात और चिंतनीय हो जाते हैं। शहरी क्षेत्रों में जलस्तर तेजी से गिरता जा रहा है। लोग और गहराई पर बोरिंग खनन करवा रहे हैं, क्योंकि उनके शहर की नगर निगम उन्हें पानी मुहैया कराने को तैयार नहीं है।

लेकिन त्रासदी यह है कि जब बारिश नहीं होती तो शहरों में हाहाकार मच जाता है और जब बारिश खूब हो जाती है तो बाढ़ के कारण त्राहिमाम की स्थिति निर्मित हो जाती है।

इसीलिए नए भारत के लिए सबसे जरूरी यह है कि उसके शहर वर्षाजल का महत्व समझें। इसका सीधा-सीधा मतलब यही है कि हर कॉलोनी और हर घर में वॉटर हार्वेस्टिंग प्रणालियां स्थापित की जाएं। साथ ही इसका मतलब यह भी है कि पहले से ही उपस्थित तालाबों और पोखरों की जलपसंद का सम्मान करें। देश के लगभग हर शहर में इस तरह के पोखर-ताल होते हैं, जो बाढ़ के खतरों को नियंत्रित करते हैं तो पानी की किल्लत होने पर जलसंसाधन की भूमिका भी निभाते हैं। लेकिन आधुनिक शहरी-नियोजक जमीन के आगे कुछ नहीं देख पाते। लिहाजा, जो जमीन पानी के लिए आरक्षित होना चाहिए, उसे भी बसाहटें निगल जाती हैं, जबकि हमारी परंपरागत जल-संरचनाएं उपेक्षा का शिकार होकर कूड़े और गंदगी की शरणगाह बन जाती हैं।

लिहाजा सबसे बड़ी त्रासदी तो यही है कि हम वर्षाजल के संरक्षण के अपने परंपरागत ज्ञान को भूलते जा रहे हैं। आधुनिक भवन-निर्माताओं और शिल्पकारों को जल-संरक्षण की शिक्षा ही नहीं दी गई है। वे पानी को कूड़े की तरह देखते हैं और उससे छुटकारा पाने के उपाय करते हैं। यह देखना वाकई दुखद है कि एक समाज और एक सभ्यता कितनी तेजी से अपनी मेधा को विस्मृत कर देती है।

आज विश्व जल दिवस के अवसर पर हम प्रण लें कि अपनी जल-मेधा को पुनः अर्जित करेंगे। हम अपने परंपरागत ज्ञान को पुनः प्राप्त करेंगे। केवल तभी हम सही मायनों में जल-शिक्षित कहला सकेंगे और आने वाले कठिन समय का सामना करने को तैयार रह पाएंगे।

(साभार : नई दुनिया)



“The price of greatness is responsibility.”

—Winston Churchill



सबसे जरूरी है सोच बदलना

● आर.के. विज



समाज में बदलाव लाने के लिए विशिष्ट सुधार करना बेहद आवश्यक है। जब तक महिलाएं शिक्षित और सशक्त नहीं हो जातीं, समाज की सामान्य मानसिकता एवं खासतौर पर पुलिस नहीं बदलती और महिलाओं को जीवन के हर क्षेत्र में बराबर का साथी नहीं समझा जाता, तब तक स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी।



दि | ल्ली गैंगरेप की घटना के बाद देश का गुस्सा अब कुछ कम होने लगा है। सरकार द्वारा प्रस्तुत अध्यादेश पर राष्ट्रपति की मुहर लगने के बाद महिलाओं से संबंधित अपराधों में संशोधन संसद द्वारा कानून बनाए जाने तक लागू रहेंगे। यद्यपि महिलाओं का पीछा करना, निर्वस्त्र कर लज्जित करना, एसिड अटैक जैसे अपराध पूर्व के कानून में भी अप्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित थे, जस्टिस वर्मा कमेटी द्वारा इनकी सजा बढ़ाकर इन्हें और स्पष्टता: परिभाषित कर दिया गया है। परंतु क्यों ये संशोधन भविष्य में होने वाली घटनाओं के निवारण के अंतिम रूप में देखा जा सकते हैं? महिलाओं पर होने वाले अपराध आज भी जारी हैं। अंतर इतना है कि मीडिया और जनता की प्रतिक्रिया कहीं कम तो यहीं ज्यादा है। माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने सभी सत्र न्यायालयों को बलात्कार के प्रकरणों को मामूली कारणों से स्थगित करने के बजाय दो महीने में लगातार ट्रायल पूर्ण करने के जो निर्देश दिए हैं, उनका वास्तविक असर देखना अभी बाकी है। सभी को कठोर कानून बनाने की उम्मीद अवश्य है, किंतु इनसे हमारे पुरुष-प्रधान समाज की मानसिकता किस हद तक बदलेगी, कहना कठिन है।

हाल ही में हरियाणा में लिंगानुपात में गिरती दर को महिलाओं के लिए असुरक्षित वातावरण के लिए दोषी

ठहराया गया था, जबकि आंकड़ों का विश्लेषण इस तरह के निष्कर्षों को नहीं मानता। उदाहरण के लिए छत्तीसगढ़ में वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार 21 में से सात जिलों में लिंगानुपात धनात्मक है, परंतु इन जिलों में बलात्कार की घटनाओं में कमी आती नहीं दिख रही है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि वर्ष 2001 से 2011 तक लिंगानुपात में 933 से 940 की वृद्धि हुई है, लेकिन इसी अवधि में बलात्कार की घटनाएं 16,705 से बढ़कर 23,939 हो गई हैं। इसी प्रकार लैंगिक अपराधों में वृद्धि के लिए ड्रेस कोड को भी जिम्मेदार नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह तर्क आधारहीन है। महिलाओं की सुरक्षा के लिए शाम होने के बाद घर से बाहर न निकलना की सलाह को भी इस समस्या का स्वीकार्य हल नहीं माना जा सकता, क्योंकि समाज चाहता है कि पुलिस सुरक्षित वातावरण प्रदान करे, न कि चेतावनियां जारी करे, जिनसे देश की 'आधी आबादी' के दिमाग में डर बैठ जाए। जरूरी है कि समस्या की जड़ को पहचाना जाए, सिर्फ ऊपरी निवारणों को प्राथमिकता न दी जाए।

वास्तव में महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराध अकेले पुलिस द्वारा नियंत्रित नहीं किए जा सकते। गांधीजी मानते थे कि बुराई सामाजिक संरचना एवं राजनीति द्वारा





हिंसा और छुआछूत जातिवाद, सांप्रदायिकता और लिंगभेद भी मानवता के विरुद्ध अपराध है। शांति का अध्ययन करने वालों में प्रमुख जॉन गल्लिंग ने गांधी के चश्मे से देखा है कि कैसे असमान, अनुचित एवं अप्रतिनिधित्व वाली सामाजिक संरचना में हिंसा उत्पन्न हरेती है। कोई भी इस बात से सहमत होगा कि अमीर-गरीब के बीच की गहराई खाई, जाति एवं धार्मिक असहिष्णुता, लैंगिक असंवेदनशीलता और महिलाओं से कमजोर वर्ग की तरह व्यवहार करना, बेरोजगारी, अत्याधिक गरीबी आदि ऐसे कारण हैं, जो हमारे समाज में गहराई तक व्यापत हैं, जिससे हिंसा उत्पन्न होती है। जब तक इन विभेदों को पूरी तरह दूर नहीं किया जाता, अन्य सभी नियंत्रण केवल औपचारिक सिद्ध होंगे। हमारी विकास योजनाओं एवं सामाजिक कानूनों को विस्तृत होकर सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं को दूर करना होगा। हमारे समाज के ऐसे वर्ग की सोच को भी बदलना होगा, जो महिलाओं को दूसरे दर्जे पर रखता है।

दूसरे, पुलिस यौन हिंसा के प्रकरणों को दर्ज करने एवं सुलझाने में संवेदनशील होने की आवश्यकता है। क्षेत्राधिकार जैसे मुद्दों पर अपनी जिम्मेदारी से बचने का प्रयास न किया जाए। यह दुर्भाग्यजनक है कि एक बहुत से फरियादियों को पुलिस स्टेशन से रिपोर्ट दर्ज किए बगैर ही वापस लौटाकर पीड़िता को आरोपी की दया पर छोड़ दिया जाता है। अपराध के आंकड़ों में उतार-चढ़ाव से प्रभावित हुए बिना मुक्त पंजीयन किए जाने का नियम सख्ती से लागू किया जाना चाहिए। इसी प्रकार अपराध में वृद्धि के वास्तविक कारण को जानने के लिए संख्यात्मक के स्थान पर गुणात्मक विश्लेषण को प्राथमिकता दी जाना चाहिए। दिल्ली में हुई पुलिस महानिदेशकों की विगत मीटिंग में अपराधों का गुणात्मक विश्लेषण पर एनसीआरबी के वार्षिक अपराध प्रकाशन को और अर्थपूर्ण बनाने के लिए वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों के एक समूह का गठन किया गया है।

पुलिस के लिए यह अनिवार्य है कि वह नागरिकों एवं विशेष रूप से वरिष्ठानों, बच्चों एवं महिलाओं को एक सुरक्षित वातावरण प्रदान करे। केरल के थिसुर में जुलाई

2012 में आयोजित महिला पुलिस की पांचवीं राष्ट्रीय बैठक में महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों पर प्रभावी अंकुश लगाने के लिए सभी पुलिस स्टेशनों पर कम-से-कम चार महिलाओं को नियुक्ति करने तथा पुलिस के कम-से-कम एक तिहाई बल के रूप में महिलाओं की भर्ती किए जाने की अनुशंसा की गई है। इस बात की भी अनुशंसा की गई कि लैंगिक जागरूकता के लिए सभी स्तर के अधिकारियों के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण एवं अतिरिक्त बल के लिए कुल बजट के औसतन तीन प्रतिशत बजट को बढ़ाया जाए। जांच में सुधार लाने के लिए राज्यों में डीएनए परीक्षण की सुविधा विकसित की जाना चाहिए, ताकि सुरक्षा एजेंसियों को घटना के बाद यौन संबंधों के निश्चयात्मक प्रमाण मिल सकें तथा साक्ष्य अधिनियम की धारा 114-ए के अंतर्गत अभियोजन पक्ष को अवधारणा का लाभ मिल सके। ऑडियो-वीडियो उपकरणों को पीड़ित एवं गवाहों के बयानों के प्रमाणीकरण के लिए उपयोग किया जाना चाहिए। अपराध-स्थल की छेड़छाड़ से पूर्व उसकी अविनाश जांच की जाना चाहिए। कानून के अनुसार 24 घंटों के भीतर नजदीकी अस्पताल में पीड़िता की मेडिकल जांच करवाई जाना चाहिए, ताकि साक्ष्य नष्ट न हो सकें। नाबालिग पीड़िता की उम्र निश्चित करने के लिए प्राथमिक सबूत एकत्रित किए जाने चाहिए।

किसी महिला के शरीर से खिलवाड़ कोई साधारण अपराध नहीं है। कोई भी सजा इस तरह के अपराध की शिकार महिला की मानसिक क्षति की पूर्ति नहीं कर सकता। इसलिए समाज में परिवर्तन के लिए विशिष्ट सुधार करना वेहद आवश्यक है। जब तक महिलाएं शिक्षित और सशक्त नहीं हो जातीं, समाज की सामान्य मानसिकता एवं खासतौर पर पुलिस नहीं बदलती और महिलाओं को जीवन के हर क्षेत्र में बराबर का साथी नहीं समझा जाता, तब तक स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी।

(लेखक छत्तीसगढ़ के वरिष्ठ पुलिस अधिकारी हैं)

(साभार : नवदुनिया)

□ □ □



Ring out the rhetoric, ring in results

- RENANA JHABVALA
- BETWA SHARMA

Creating a safer environment for women is not only the responsibility of the police or the government, but also a matter for us. With women entering public spaces in greater numbers, changing the capital's entrenched culture of violence is necessary and possible

Less than two weeks after the brutal gang rape of the 23-year-old student on a Delhi bus, the issue of women's safety has been overshadowed by other incendiary fallouts and squabbles over the protests, which were carried out by thousands demanding justice for the victim. In the year ahead, it is imperative not to lose sight of the overarching challenge of protecting Indian women against the rising tide of dangers. Devising and enforcing an agenda for women's safety is a daunting task, but the call for "we want justice," which rang out over India Gate, needs a clear agenda and practical action.

Women today are entering public spaces in large numbers. Every family, however poor, attempts to send its girls to schools. Girls today aspire to a better and higher education and indeed outnumber and outperform boys in colleges and universities. For a young woman, of every class, marriage and children and the kitchen are no longer her only aspiration, but many dream of a job, a career

and a place in society outside the home. Unlike earlier generations, young women today are no longer cowed down by society and are not afraid to speak their minds. Nor do they meekly accept that they are inferior to men and must bear whatever punishment is imposed on them in public or at home.

'Accepted' culture

However, Delhi has always had a culture of various forms of violence against women in public places. It is "accepted" that a group of men may pass a lewd comment against a woman in public, or that they may "brush up" against her in a bus. For young men, harassing women is a right of passage, and is covered up in the mild word "teasing." It is not uncommon for this form of open harassment to lead to actual molestation and even rape. Every girl and woman living in Delhi can testify to cases of sexual harassment in public space, while the capital also has the highest number of reported rapes in the country and a dismal conviction rate.



The attitude of the general public in Delhi supports this anti-woman culture. Women today often fight back, but are rarely supported by others, even in crowded places. Every incident, whether in a bus or the metro or on the road, has some men muttering “look at the way she is dressed” or “you should be silent, these things happen” or “she invited it,” or “girls should remain at home, why is she out on the streets?” These kinds of comments are echoed by public personalities where only “dented and painted” women protest!

If women are to continue on this path towards becoming useful and equal members of society, it is imperative that their safety in public places be guaranteed. We have seen many women who have had to withdraw from schools or jobs because of the harassment they face in buses or on roads. This is especially true of poor or middle class families where the first generation of girls are emerging from their homes or traditional occupations.

Creating a safer environment for women is not only the responsibility of the police or the government, it is a matter for us all. Changing the Delhi culture is a long process that needs concerted effort over months, years and decades. The police and courts need to be active allies in this.

The steps needed

First, it is necessary for women to speak up. Silence encourages the perpetrators, and ensures that they behave worse next time. Second, men must support women when they speak up. They must make the perpetrator feel ashamed and apologetic. Third, the police must play an active role.

Sexual harassment is not “teasing,” it is a crime, and the perpetrators cannot be treated with a smirk and that “boys will be boys.” Finally, when such crimes reach the courts,

The Delhi Metro has had a remarkable record in making it safe for women, but conditions are deteriorating in Metros and much more needs to be done. The protection of women needs a programme that involves increased patrolling, increasing lighting of dark areas, introducing CCTV cameras and GPS in buses and trains.

it is necessary for the courts to also treat them seriously. Many judges view molestation and rape cases as the woman’s fault and treat her like the criminal, rather than the victim, often using words in their judgments which betray their biases. At the same time these cases are allowed by a court to drag on for years, so that the victim never gets justice, but continues to be harassed by the criminal who is out on bail. Delhi had 635 reported rape cases in 2012 with only one conviction. It had



193 cases of “eve teasing” reported with zero convictions.

The goal should be results over rhetoric. To begin with, certain public areas in Delhi should be identified to execute a targeted response. Some public spaces where harassment occurs are buses and bus stops, metros, spaces outside schools and colleges and market areas. It is important to protect women and change the culture in these areas. The Delhi Metro has had a remarkable record in making it safe for women, but conditions are deteriorating in Metros and much more needs to be done. The protection of women needs a programme that involves increased patrolling, increasing lighting of dark areas, introducing CCTV cameras and GPS in buses and trains.

Additionally, there should be police booths in areas where there are schools and colleges for an immediate response to women-safety related complaints; and a helpline for women with a set response time to be accessed via phone, emails and texts with photos of the offenders sent by mobile phone. Perhaps most effective would be immediate punishment or fines on the spot as is done in traffic-related offences.

Posters, hoardings, announcements and advertisements make an important difference in people’s consciousness. Posters inside metros and buses can encourage men to behave properly and respect women an

image with a big cross for a man staring or groping a woman. A sustained advertisement campaign must follow. Besides public service messages and private companies featuring women’s products should focus on messages encouraging women to speak up.

Using information

However, most important is the need for citizen patrolling and citizen-police cooperation. Parents of school and college girls are often willing to work with police to protect their children. They need to be tapped in large numbers. Women’s organisations, and non-governmental organisations (NGO) working with women and girls are able to mobilise and provide information to the police on areas where women face harassment. These NGOs need to be drawn into partnership with the police and government efforts.

Changing the culture of a city is hard work, but it needs to be done. Otherwise, women will continue to face the continuum of sexual harassment from lewd remarks to brutal rape. Decades of efforts to empower women will fail as fear forces them out of public spaces.

(Renana Jhabvala is the national coordinator of SEWA and president of SEWA Bharat, and Betwa Sharma is a Delhi-based journalist focusing on human rights.)

Courtesy :- The Hindu



“Our chief want is someone who will inspire us to be what we know we could be.”

—*Ralph Waldo Emerson*



A woman-shaped gap in the Indian workforce

● JAYAN JOSE THOMAS

● | A mix of social constraints and dearth of employment opportunities has kept women out of the labour market, leading to a huge opportunity cost to the nation

Women in India face enormous challenges for their participation in the economy in a way that mirrors the many injustices they suffer in the society at large. The labour participation rate of women that is, the number of women in the labour force as a proportion of the total female population provides an indicator of some of these challenges. In 2008, the labour participation rate in India was only 33 per cent for females as compared to 81 per cent for males. By way of comparison, it was 68 per cent for females in China. Among Indian States, the female labour participation rate is one of the lowest in Delhi, a region also known for its harsh treatment of women.

The labour force includes not only the employed but also unemployed persons who are actively seeking jobs. In India, substantial numbers of women who are not counted in the labour force are, as described in the official statistics, 'attending to domestic duties' in their own households. National Sample Survey reports tell us that, in 2009-10, out of every 1,000 females (all ages) in India's rural areas, 347 were attending to domestic duties.

In the case of urban females, this number was even bigger: 465 per 1000. Compare this to the number of rural and urban men who were attending to domestic duties: only 5 per 1,000 and 4 per 1,000 respectively.

Why is India's female labour participation rate so low? Part of the answer lies in the methods employed to measure women's work.

A woman's work in her own household is not counted as an economic activity, and does not get reported in the national income statistics. This is unlike the case of services by a paid domestic help, which is considered an economic activity and is counted in the national income. As is well known, women's domestic duties include childbirth, caring for the young and old, cooking, and a range of other activities that are crucial for the upkeep of the family.

However, society undervalues these immense contributions made by women. And, to some extent, official statistics reproduces the prejudices in the society.

In rural areas, women periodically enter



and exit from agricultural work. Quite often, women's participation in agricultural activities as self-employed workers is to supplement the falling incomes of their families during times of agrarian distress. This is what seemed to have happened in India between 1999-2000 and 2004-05. During this five-year period, the growth of agricultural incomes in the country was stagnant, yet the



India, social factors play a significant role in reducing women's labour participation. Husbands and in-laws often discourage women from working, while, in many parts of the country, restrictions are imposed even on their movements outside the household.



number of self-employed female workers engaged in agriculture and related activities increased by 17 million, possibly indicating 'distress employment'.

On the other hand, between 2004-05 and 2009-10, the number of self-employed female workers engaged in agriculture and related activities decreased by 19 million in India.

This decline in employment could be attributed to a modest revival in the growth of agricultural incomes and to the positive impact on rural employment and wages created by the MGNREGA (Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act). Thus, it appears that in India, during the 2000s, female employment in agriculture was not driven by any real opportunities for income generation, but was part of a last-ditch effort to escape impoverishment.

Urban, Educated Women

In India, social factors play a significant role in reducing women's labour participation. Husbands and in-laws often discourage women from working, while, in many parts of the country, restrictions are imposed even on their movements outside the household.

In this context, it is notable that labour participation is particularly low in India among urban, educated women the section of the female society that is, in fact, less likely to be constrained by social factors. In 2009-10, the proportion of those attending to domestic duties (and therefore out of the labour force) was 57 per cent among urban females with graduate degrees or higher, compared to just 31 per cent among rural females with primary or middle school education.

What are the reasons for such a massive withdrawal of educated women from the work force? Lower wages than men could be one reason. But then female-male wage disparities exist in Japan and South Korea as well, but female labour participation has been high in these countries.

It appears that the factor that pushes



female labour participation in India to particularly low depths is the sheer absence of suitable employment opportunities. The slow generation of employment is, in turn, linked to a specific feature of India's economic transition. This is the relatively small contribution made by the manufacturing sector to India's GDP (gross domestic product) and employment.

Within Indian manufacturing, women's employment is increasingly in the low-paid, vulnerable sectors. Between 1999-2000 and 2004-05, women accounted for 3.7 million of the 9.7 million new manufacturing jobs created in the country. A large proportion of these women were employed in the export-oriented sectors such as garment-making.

However, by 2009-10, India's manufacturing sector was suffering from a variety of problems, including power shortage and a slowdown in export demand from western countries. Between 2004-05 and 2009-10, 3.7 million manufacturing jobs were lost in the country, and more than 80 per cent of those who lost their jobs were women.

During the post-1990 years, the major source of employment for women has been in the services sector, mainly in low-paid services such as domestic help. At the same time, females accounted for only a small share of the relatively high quality jobs generated in India in recent years: for instance, only 20 per cent of the new jobs created in financing, real estate and business services during the 2000s, and 10 per cent of the new jobs generated in computer and related activities during the second half of the 2000s.

Amartya Sen has written about the 'missing women' in India, highlighting the low female-male ratio in the country's population. Sen argues that this issue points to the severe disadvantages faced by the female child in India. The issue of the missing women in India's population has a parallel in the problem relating to the missing women in India's workforce. That is, the staggering numbers of women who have withdrawn from the labour force and attend to domestic duties.

In 2009-10, the total number of women attending to domestic duties in India was 216 million, which was larger than the entire population of Brazil. Of these, women with graduate degrees or higher numbered 12.7 million, which was more than twice the population of Singapore. Clearly, the large-scale withdrawal of women from the labour force involves enormous wastage of talent and causes a huge opportunity cost to the nation.

Creating more jobs and ensuring better working conditions for women will encourage greater female participation in the economy.

As more women join the workforce, the voices against gender-based inequalities will grow louder. Equally importantly, there will also be more hands and brains to take the Indian economy forward.

(Writer is teaches Economics at the Indian Institute of Technology Delhi.)

Courtesy :- The Hindu





Going from Zero FIRs to e-FIRs

● APARNA VISWANATHAN

“ The government must allow the online filing of first information reports in rape cases as that alone will ensure mandatory and automatic registration of complaints ”

On January 18, 2013, Delhi police chief Neeraj Kumar announced that Zero First Information Reports (FIRs) may be registered on the basis of a woman’s statement at any police station irrespective of jurisdiction. This means women can file an FIR at any police station and the complaint is required to be registered on the basis of the woman’s complaint verbatim. Mr. Kumar stated: “The woman’s statement has to be taken as gospel truth and a probe needs to be initiated on its basis.”

IMPORTANT STEP FORWARD

At the same time, the Delhi police chief announced a series of other measures such as the recruitment of 418 women sub-inspectors and 2,088 women constables, deployment of PCR vans outside women’s colleges, the provision that women can call 100 to seek assistance to be dropped home at night by a PCR van, and 24-hour police cover for areas around entertainment hubs with heightened security between 8 pm and 1 am. While the foregoing measures must certainly be welcomed as an important step forward towards making the criminal justice system functional, it is surprising that e-governance has not been utilised by the Delhi

police as an important solution in a country which is considered the world’s leading provider of IT enabled solutions.

E-governance is the application of information and communication technology to delivering government services, exchange of information and integration of various stand-alone systems and services between the government and citizens as well as back-office processes within the government. Through e-governance, government services can be provided to citizens in an efficient and transparent manner, which is of desperate need in India.

As shown by the introduction of the Zero FIR, the starting point towards improving criminal justice is the filing of the criminal complaint itself. It is well known that the filing of FIRs, particularly for cognisable offenses, is an extremely difficult exercise more so for a rape victim who has to ceaselessly recount the horrific event. Police stations often refuse to register FIRs for cognisable complaints, and innumerable rapes around the country go unreported. The victims then are forced to file a private complaint in court under Section 156(3) of the Criminal Procedure Code (CrPC) seeking an order directing the police



to register an FIR. The police chief's announcement that the woman's statement will be taken as the "gospel truth" is an important first step that will hopefully enable rape victims to register an FIR.

The police have often taken the view that, under Section 154 of the CrPC, complaints need to be investigated before the FIR is registered because the complaint could be a disguised civil or commercial dispute or a way of settling personal enmity. Complaints of criminal cheating and fraud are sometimes filed as a way of pressuring business associates to settle financial disputes or for personal grudges. However, this is highly unlikely to occur in the case of rape. In fact, there is no reason why all complaints for at least cognisable offences should not be registered as FIRs and then investigated.

While the Supreme Court has, in various judgments, taken contradictory views on the issue of whether the police are required to investigate a complaint before registering an FIR under Section 154 of the CrPC, it has repeatedly expressed its deep anguish over the failure of police to register FIRs, particularly in rape cases. Hopefully, the police will now register an FIR based on the woman's statement as per the recently announced measures. However, the mandatory and automatic registration of FIRs can be ensured only through e-governance, that is, by providing for online registration of FIRs by citizens.

TRACKING NETWORK

The online registration of FIRs was supposed to be implemented by 2013. On March 21, 2012, the then Union Home Minister, P. Chidambaram, stated in the

Rajya Sabha that online registration of FIRs would be possible once the server and network connectivity was established by the end of 2012 or early 2013. However, the online filing of FIRs will be made possible



The police have often taken the view that, under Section 154 of the CrPC, complaints need to be investigated before the FIR is registered because the complaint could be a disguised civil or commercial dispute or a way of settling personal enmity. Complaints of criminal cheating and fraud are sometimes filed as a way of pressuring business associates to settle financial disputes or for personal grudges



only upon the implementation of the Crime and Criminal Tracking Network and Systems (CCTNS), an ambitious Rs. 2,000 crore project of the Home Ministry, aimed at increasing the efficiency and effectiveness of policing through e-governance by creating a state-of-the-art IT-enabled crime tracking system for investigation of crime and detection of criminals.

Under CCTNS, 14,000 police stations will



be automated as well as 6,000 offices of higher police officials. The CCTNS is a platform for sharing real time information by law-enforcement agencies, which will improve identification of criminals and crime investigation. Funds in the amount of Rs. 418 crore have reportedly been released to the States/Union Territories and 4.54 lakh people have been trained. The CCTNS project was supposed to be completed in March 31, 2012. However, in June 2012, the Cabinet Committee on Economic Affairs (CCEA) extended the deadline to March 2015.

In November 2012, the Home Ministry began monitoring the status of the CCTNS project on a weekly basis and appointed 20 Joint Secretaries to monitor the progress of the project and ensure completion by March 2015. The delay in project implementation was reportedly due to the non-availability of common application software (CAS) and infrastructure problems. Since law and order is a State issue, issues of coordination between the States also contributed to the delay. However, it is unclear why the Indian government needs to implement a Rs.2,000 crore project before enabling online filing of FIRs. In view of the great national imperative in creating deterrence against rape, websites and e-filing mechanisms should be immediately created to permit e-filing of FIRs at least in rape cases.

The online filing of annual accounts and other documents was successfully implemented several years ago by the Ministry of Company Affairs. Various State governments have also provided for online filing of police complaints and online payment

of traffic challans. The Himachal Pradesh Police have introduced an interactive portal called "Kanoon Vyavastha," the first of its kind in the country, by which a police complaint can be filed online or by SMS. As per a report in the Financial Express, of 1,821 SMSs received, 22 FIRs were registered without the complainant having to visit the police station. Of these 22 FIRs, reportedly only one was related to a rape case. After the launch of SMS service in May 2010, 4,392 SMSs were received, of which 82 FIRs were registered. The complainant can check the status of the FIR online and post comments. The web portal is used for daily crime reporting, providing details of missing persons and vehicles and road accidents. Jalandhar reportedly has an online crime tip page where people can anonymously inform the police of a crime that has been committed. Similarly, Maharashtra has an e-complaint system for reporting minor crimes, that is, non-cognisable offences.

Simultaneously, with the introduction of Zero FIRs, online filing of FIRs at least in rape cases should immediately be implemented irrespective of the status of the CCTNS project. The introduction of e-FIRs will be an important signal to all criminals that rape will not go unpunished.

(writer s author of Cyber Law: Indian and International Perspectives (Lexis Nexis Butterworths Wadhwa 2012))

Courtesy :- The Hindu





Two years without polio

• T. JACOB JOHN



The large sums of money spent in the eradication of the disease is an investment in the economic development of the country

In the 1980s, only three decades ago, 200,000 to 400,000 children, all under 5 years, were afflicted with polio paralysis annually in India. That was a daily average of 500 to 1000 cases. By the age of six, eight among 1,000 children already had polio paralysis; two would have died. In other words, one per cent of infants born were destined to develop polio.

Global movement

In 1988, India joined the global movement for polio eradication at a time when we had not even succeeded in bringing polio under control. Control status required at least 95 per cent reduction. In 1978, India launched the Expanded Programme on Immunisation (EPI) with BCG and DPT vaccines. The oral polio vaccine (OPV) was introduced the next year. Natural polioviruses are called 'wild' to distinguish them from vaccine polioviruses that constitute OPV. Vaccine viruses are 'attenuated' from wild viruses which means they have lost most of their 'virulence,' the ability to cause paralysis and the ability to spread fast among children. These two are the dreaded qualities of wild polioviruses.

By 1988, diphtheria, whooping cough and neonatal tetanus had declined to control levels as a result of EPI's efforts. But polio did not come under control showing that OPV was not as effective in India as in the West or

in China. There, just three or four doses protected all children. In India, we had to give many more doses for equal effect. From 1994, India began nationwide OPV campaigns (called pulse immunisation) two per year to give additional doses to all under-five children irrespective of the number of doses already given. That resulted in effectively controlling polio by 2000. One of the three types of polioviruses, wild type 2, was even eradicated by October 1999 when the average number of OPV doses had reached six per child. The type 2 component of OPV was not only more effective against that type, but it also inhibited the effect of types 1 and 3.

That left India with the struggle to eradicate wild types 1 and 3 using a blunt weapon, the trivalent OPV (tOPV), containing types 1, 2 and 3, which is necessary to attack all three viruses simultaneously. In the Gangetic plain States, particularly Uttar Pradesh and Bihar, 9-10 pulse immunisation campaigns were conducted annually from 2004 to 2010. We then developed OPV containing just type 1 to make the tool sharper against the type 1 wild virus. That is called 'monovalent OPV' (mOPV-1). Eventually, India made 'bivalent OPV' (bOPV) with types 1 and 3. Remember, we did not have wild type 2 virus since 1999. With new tools and covering almost 100 per cent children in their homes, while travelling, in brick-kiln and sugarcane fields where



temporary migrant labour set up homes, wild polioviruses had no place to hide. We succeeded in stopping the transmission of type 3 in 2010 and type 1 in 2011. The last child with wild virus polio was detected in Howrah, West Bengal, with the onset of paralysis on January 13, 2011. Since then, only bOPV has been used for immunisation campaigns in U.P. and Bihar, while tOPV is used in routine EPI and national pulse immunisation campaigns twice each year.

How sure are we that wild polioviruses have been totally banished? There is a solid body of evidence to show this. All hospitals and clinics that attend to sick children have been networked to report any illness that even remotely resembles polio. Such illness is called 'acute flaccid paralysis' (AFP). Stool samples from every child with AFP are collected and tested for the presence of polioviruses.

How sure are we that wild polioviruses have been totally banished? There is a solid body of evidence to show this. All hospitals and clinics that attend to sick children have been networked to report any illness that even remotely resembles polio. Such illness is called 'acute flaccid paralysis' (AFP). Stool

samples from every child with AFP are collected and tested for the presence of polioviruses. Every poliovirus so detected is further tested to distinguish wild poliovirus from vaccine poliovirus. When a lot of OPV is given to children, many with AFP would have vaccine polioviruses. That is to be expected. Sewage samples are collected every week from several wards of Mumbai, Delhi, Kolkata and Patna. During 2011 and 2012, all sewage samples were consistently negative for wild polioviruses (but with plenty of vaccine viruses). In northern India, the last footholds of wild polioviruses, the second half of each year was the season of high wild virus transmission. We passed two 'high seasons' in 2011 and 2012 without a single case. India has truly succeeded, silencing the many prophets of failure.

Highly contagious

Wild polioviruses are highly contagious illustrated by some 50 episodes of international importations to countries that had once eliminated them using OPV. We had exported wild viruses to Nepal and Bangladesh in our neighbourhood, and to Bulgaria, Angola, China and Tajikistan, to name some distant ones. Now India is polio-free and vulnerable to importation from Pakistan, Afghanistan and Nigeria the three countries that have not yet eliminated wild polioviruses. We cannot lower our guard and must continue pulse immunisations as though importation is imminent. India has five points of border-crossing with Pakistan: two in Jammu-Kashmir, two in Punjab, and one in Rajasthan. At every point, individuals are given one dose of tOPV when they enter India.

What was very remarkable was that India's



money went into the lion's share of expenditure for polio eradication in the country, thus easing up global funds for use in other countries that needed them more than we do. India spent about Rs 1000 crore every year since 2000.

The rationale

Many have questioned the wisdom of spending such large amounts on one childhood disease. Was polio worth eradicating? From a humanitarian viewpoint as well as human rights angle no child deserved to be paralysed by a preventable disease. We know the struggle we had to go through merely to keep polio under control. Eradication is the best form of control. Once affected with polio, many children are neglected, do not complete high school, take up simple jobs like bicycle repair, managing telephone booths, etc.

The disability-determined productivity loss may be taken as about half of the gross domestic product per capita. That amounts to approximately Rs 50,000 per year; cumulated over 30 years of productive life, India was losing Rs. 15 lakhs per person for a staggering Rs 45,000 crore per annum loss to the domestic economy from just one disease, polio, that affected 300,000 children each year. Controlling diseases that affect

productivity is indeed a development activity. Eradicating polio is an investment. The absence of polio is both a measure of, and a means to, development.

The National Polio Eradication Certification Committee will confirm eradication of wild viruses and review the secure containment of laboratory storage of wild poliovirus strains or specimens likely to contain them before certifying India free of wild viruses. The Committee will wait for three years from the last virus detection before certification procedures, expected after January 2014. Thereafter, India will use only bOPV; later that will also be withdrawn, globally, synchronously. These rules of polio eradication 'end game' have been drawn up by the World Health Organisation and were endorsed by the World Health Assembly in 2012. In order not to create any polio immunity vacuum, the inactivated poliovirus vaccine will be introduced and sustained for at least five years. Polio eradication will then mean 'no infection with any poliovirus, wild or vaccine.'

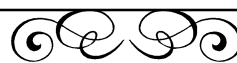
(The author was on the teaching faculty of Christian Medical College, Vellore, until retirement)

Courtesy :- The Hindu



"Enthusiasm is excitement with inspiration, motivation, and a pinch of creativity."

—**Bennett**





Development minus green shoots

- T.R. SHANKAR RAMAN
- M.D. MADHUSUDAN



By exempting some projects on forest land from gram sabha consent, the government has undermined the rights of local communities and their crucial role in protecting the environment

In early February, the Ministry of Environment and Forests partially revoked a crucial order it had issued in August 2009, which made the consent of gram sabhas mandatory for projects seeking diversion of forest lands for non-forest purposes. Now, the ministry has exempted “projects like construction of roads, canals, laying of pipelines/optical fibres and transmission lines etc. [sic] where linear diversion of forest land in several villages are involved” from obtaining the consent of the gram sabhas concerned. The requirement for gram sabha consent, in the 2009 order, was provided to uphold the rights of forest-dwelling communities, in keeping with the Scheduled Tribes and other Traditional Forest Dwellers (Recognition of Forest Rights) Act, 2006 (or Forest Rights Act) and duly incorporated in guidelines issued by the Ministry of Tribal Affairs in July 2012.

Rejecting bauxite mining

The 2009 order had empowered forest-dwelling communities to reject projects harming the local environment, livelihoods and culture. The best example comes from the affected gram sabhas of the Dongaria Kondh and Kutia Kondh tribes in Odisha refusing their consent to Vedanta’s bauxite mining project in the Niyamgiri hills. Until the

recent order, the Forest Rights Act and its requirement of gram sabha consent had been publicly supported by both the ministers for Environment and Forests, and Tribal Affairs even in the face of sustained pressure from more powerful quarters in government and the Prime Minister’s Office (PMO).

In December 2012, the Tribal Affairs Minister wrote to Ms Jayanthi Natarajan, his colleague in Paryavaran Bhavan. The emphatic letter stated: “... the consent of the gram sabha, with at least a 50% quorum (as stated in the Rules and in the 2009 order) is the bare minimum that is required to comply with the Act before any forest area can be diverted, or destroyed.” A handwritten postscript said: “any dilution of the above mentioned circular of 2009 will have an adverse impact on the ‘Vedanta case,’ which is sub-judice.” One can imagine the pressures when the same Tribal Affairs Minister, weeks later, in a letter to the Power Minister, was forced to set aside this requirement of gram sabha consent for power lines. Following this, the environment ministry revoked the requirement for an even broader range of linear projects.

Dangerous consequences

When two central ministries, one tasked to protect the environment and forests, and



the other to empower tribal and forest peoples, are strong-armed into relinquishing even the “bare minimum” required to implement the government’s flagship forest rights law, it utterly discredits the United Progressive Alliance’s commitment to “inclusion” in its proclaimed agenda of inclusive economic growth. Further, the consequences of this single action go well beyond the intents of those who embark on it.

Linear infrastructure projects, such as roads and power lines, while often integral to growth and development, can also have negative effects. A 2010 background paper, prepared at the initiative of the National Board for Wildlife (NBWL), lists a range of ecological impacts caused by linear infrastructure intrusions in natural areas: habitat loss and fragmentation, the spread of invasive alien species, fires, animal mortality (e.g., roadkills, electrocution), disruption of animal corridors, increased developmental and hunting pressures, and an increase in pollution and other disturbances. Social impacts may include insensitive developments in tribal areas, encroachments and land-grabbing along roads (witnessed recently in the Aravallis around New Delhi), changes in local communities due to the entry of a large workforce from other regions, and an increase in tourism, and garbage. It is therefore important that gram sabhas and rural communities retain their right to provide consent after due consideration of how such projects may benefit or affect them.

The recent order also appears unjustified and arbitrary because the criteria for arriving at exemption for linear projects and what is meant by “several villages” are unclear. No

evidence is provided as to whether gram sabha consent was in fact hindering vital development projects. Arguably, for large projects that involve a large number of gram sabhas, a situation where dissent from one or a few gram sabhas holds up a project that most other gram sabhas want, may be undesirable.

Yet, revoking the requirement for local consent is an undemocratic step that also removes opportunities for critical exploration of alternatives, such as realignments, or other ways of mitigating a project’s ecological and social impacts. Instead of viewing local consent as impeding development, it needs to be seen as a legitimate avenue for collective bargaining and peaceful action, vastly preferable to situations where forest communities are forced to turn to violent protest. In ways that an exclusively bureaucratic clearance process can never achieve, gram sabha consent can ensure that citizens are truly made partners in development and its benefits actually flow to the poorest.

The recent order of the environment ministry also conflates projects such as roads, power lines, and canals (not to mention the ominous ‘etc.’). Bundling them together just because they are all linear is a serious error as the effects of roads or canals on the environment or forest cover and on local communities are substantially different from the effects of power lines. For example, roads through forests can lead to soil erosion and wildlife deaths through collision with vehicles. Roads and canals can change hydrological and agricultural patterns, unlike power lines. While some social or environmental effects may be common to different kinds of linear



projects, the distinctions are serious.

For more balance

Another danger in the order is that it weakens and vitiates the process of settling rights under the Forest Rights Act, which, as many rights groups have pointed out, has not been progressing smoothly, especially in areas where economic interests vie with the claims of forest dwellers. The ministry's exemption affects rights settlement processes and may lead to an unfair rejection of claims. An overarching concern is the issue of precedent. If the Forest Rights Act can be diluted of its most crucial provision for some categories of projects, what is to prevent a cascade of claims for other exceptions, as are already emerging in the case of mining projects? This leads to a slippery slope that can ultimately defeat the entire spirit and intent of this rights-enabling legislation. In the words of the previous Environment Minister, Mr. Jairam Ramesh, "The question before the country is very, very simple. Are these laws to be enforced or are they to just adorn the statute books, honoured more in their breach than in their observance?"

The gains of economic growth frequently carry environmental and social costs. Instead of denying their existence or making arbitrary exemptions for projects, the trade-offs need to be acknowledged, making them explicit and transparent to citizens, strengthening the democratic foundations of decision-making, and creating more efficient and faster processes so that projects that further inclusive growth and development are not unduly hindered.

India's remaining forest cover, particularly

natural forests with native species (in contrast to planted forests of alien species such as eucalyptus), has declined in the last few decades. Remnant natural forests continue to be threatened by loss, degradation and conversion. Conserving remaining forest tracts is critical to safeguard India's threatened biodiversity, watersheds, and minimise conflicts between people and wildlife, besides providing for vital livelihood and resource needs of forest-dwelling communities. When large infrastructure projects such as roads and canals run roughshod over rural communities without paying heed to social and environmental costs, society will only stand to lose in the long run. In that sense, even the term 'infrastructure' for such projects is a misnomer, as roads and canals are merely superstructures built upon the real infrastructure represented in human and natural capital.

The present order of the ministry, masterminded by the PMO, to dilute legal requirements meant to safeguard forest dwellers and the environment, is a move towards greater opacity and central control, favouring corporate-industrial interests over local people and marginalised communities. Where the government could be working to reconcile the needs of development and environment, it is instead driving further wedges between the two.

Courtesy :- The Hindu

*E-mails: trsr@ncf-india.org; mdm@ncf-india.org)
(T.R. Shankar Raman and M.D. Madhusudan are
scientists with the Nature Conservation
Foundation, Mysore.*





‘Gender sensitivity is a matter of life and death... all of us are accountable’



● Nandana Sen

We must not forget that for many children, the struggle for survival does not end at age 5 or 6, that there are dire threats beyond disease and nutrition, such as domestic violence, child marriage and child pregnancy, lack of education, child labour, incest and sexual abuse, violence driven by caste and religion, corporal punishment, extreme physical assault, and child trafficking.



Let me tell you about Tuba Tabassum, a stunningly beautiful girl of 14 who dreams of being a doctor, the daughter of an Anganwadi teacher, the best student in her class. Her classmate wooed her endlessly with Bollywood songs but four months ago, when Tuba continued to say no, he and his friends threw acid on her. Tuba almost lost her life, is now blind in one eye, permanently disfigured, out of school, and struggling to survive.

There is a vital need to include a gender perspective at every level of communication, to ensure long-term child survival in India. So, let's start with what we already know: In the last 10 years, the 0-6 age-group sex-ratio has fallen disturbingly in India, largely because of sex-specific abortions. Multiple states across the nation have a sex-ratio that is significantly worse than the poor national average. We know that baby girls have a much higher immunisation dropout rate than boys, that many more boys are brought into SNCUs (Sick Newborn Care Units) than girls, that boys fare much better than girls in getting breastfeeding, complementary feeding, oral

rehydration, antibiotics, and eventually, education.

What happens after a girl survives infancy? She can face continuing crises that imperil her survival, development, and ability to live with dignity. We must not forget that for many children, the struggle for survival does not end at age 5 or 6, that there are dire threats beyond disease and nutrition, such as domestic violence, child marriage and child pregnancy, lack of education, child labour, incest and sexual abuse, violence driven by caste and religion, corporal punishment, extreme physical assault, and child trafficking.

This dangerous gender bias is perpetuated by communications in multiple media by words and images, by our laws and our popular culture, by silences and inactions that speak volumes. It is communicated through TV shows that still romanticise child marriage and portray it as "cute"; through commercials that state that a dark-skinned girl will find neither a husband nor a job, and her father will wish he'd had a son instead; and through many of our popular films, which



still objectify women and glorify eve-teasing heroes who stalk girls until they give in, unlike Tuba Tabassum.

This historical imbalance is reinforced by many of our laws and practices. We are a rare democracy in which "marital rape" still has legal sanction, and the two-finger test for virginity is accepted in court as evidence when a young girl is sexually assaulted. It is expressed in the lack of sensitivity our functionaries show, in their communications with children. The absence of confidentiality in public healthcare discourages girls from seeking medical help when they need it.

We must sensitise officials in the police, healthcare, judiciary, and education sectors through comprehensive, interactive training not just a slide or two and a lecture so it can be ticked off a list of requirements, but studies of best and worst practices, so these children become real, not abstractions, nor statistics. A systemic change of attitude is imperative in all sectors. For example, anti-human trafficking squads now have special jeeps meant for rescuing children, but the police use them to respond to other crimes. The police need to be specifically incentivised to report and investigate child-abuse cases rather than be reprimanded if the number of cases reported in their precinct rises (which is what happens now). And they must be held accountable if they close a case without investigation.

The good news is, we have some very progressive acts for children now the Protection of Children from Sexual Offences

Act, or the Right to Education Act. The bad news? There is no systematic outreach about these laws. Despite the passing of the RTE Act, public schools still charge illegal fees, refuse to admit students with HIV, and fail to provide toilets for girls, in effect keeping girls away from school. Not surprisingly, once they start menstruating, there is an even steeper drop in girl-child attendance.

Another prominent communication gap in rural India is that frontline workers (such as Anganwadi, Asha, and Auxiliary Midwife Nurses) are all-female and only interact with women, while higher-level decision-makers (like doctors, pharmacists and lab-technicians) are mostly male. Although a high concentration of women in the field is advantageous in many ways, the major drawback is that none of the behaviour-change communications reach the men in the community, who would be more open to and comfortable listening to these male officials. We need greater male participation at both ends of our community outreach.

What we cannot afford to assume is, one, that gender sensitivity is not a matter of life and death, for we know that it is; and, two, that the problem is so immense that we can't make a difference. We can, and we must. All of us are accountable.

*(Writer is child Rights activist)
Courtesy :- Indian Express.*





The rising menace of intolerance

● SOLI J. SORABJEE



Freedom of expression will continue to remain under siege unless all groups accept that people can have different opinions and beliefs in a free country



O ur tradition teaches tolerance; our philosophy preaches tolerance; our Constitution practises tolerance; let us not dilute it.” These stirring sentiments were expressed by Justice Chinnappa Reddy in a Supreme Court judgment pronounced in August 1986 which invalidated expulsion from school of students belonging to Jehova’s Witness faith. Regrettably, over the years, tolerance has been replaced by the rising menace of intolerance which strikes at various fields of human endeavour and creativity: writings, music, drama, paintings and movies.

Intolerance stems from an invincible assumption of the infallibility of one’s beliefs and a dogmatic conviction about their rightness. An intolerant society cannot tolerate expression of ideas and views which challenge its current doctrines and conventional wisdom. Consequently, unconventional and heterodox thoughts and views have to be suppressed. That is the prime motivation for censorship.

Extent of dissent

One criterion to determine whether a country is truly democratic is the extent of dissent permitted. A liberal democracy is one

in which all groups in the country accept the fact that in a free country, people can have different opinions and beliefs and shall have equal rights in voicing them without fear of legal penalties or social sanctions. Right to dissent and tolerance of dissent are sine qua non of a liberal democratic society.

Today we have reached a stage where expression of a different point of view is viewed with resentment and hostility and there are vociferous demands for bans. The banning itch has become infectious. Sikhs are offended by certain words in the title of a movie; Christians want the movie, The Da Vinci Code, banned because they find some portions hurtful. The ban was struck down by the Andhra Pradesh High Court. No one dare write an authentic and critical biography of a revered religious or political leader. The American author James Laine who wrote a biography of Shivaji in which there were unpalatable remarks about Shivaji was sought to be prosecuted which was quashed by the Supreme Court. Worse, the prestigious Bhandarkar Institute at Pune where Laine had done some research was vandalised. That was mobocracy in action. The exhibition of M.F. Husain’s paintings was stopped by intimidation followed by vandalism of the





premises. The exhibition *The Naked and the Nude* at the Art Gallery in Delhi is threatened with dire consequences because it is considered obscene by the Vishwa Hindu Parishad women's wing. The musical performance by a teenage girl rock band in Kashmir was coerced into silence because the music was termed un-Islamic by a popular religious leader. There are media reports that Mani Ratnam's latest movie *Kadal* has come under fire on account of Christian ire that it has 'hurt' the feelings of the community. One wonders whether we are hell bent on emulating the Taliban.

Fortunately, our Supreme Court has been a valiant defender of freedom of expression. The well known actor Khushboo faced several criminal prosecutions on account of her remarks on premarital sex and its prevalence in metropolitan cities which were considered to be against the dignity of Tamil women and ruined the culture and morality of the people of Tamil Nadu. The Supreme Court quashed the criminal proceedings on the ground that "under our constitutional scheme different views are allowed to be expressed by the proponents and opponents. Morality and criminality are far from being coextensive. An expression of opinion in favour of non-dogmatic and non-conventional morality has to be tolerated and the same cannot be a ground to penalise the author."

The movie, *Bandit Queen*, was banned on the ground of obscenity because of the very brief scene of frontal nudity of the bandit Phoolan Devi in the movie. The Supreme Court struck down the ban and ruled that nakedness is not per se obscene. The Court emphasised that the Censor Tribunal which

is a multi-member body comprised of persons who gauge public reactions to films had approved exhibition of the movie. This aspect was also highlighted by the Supreme Court in its judgment in *T. Kannan*.

Exhibition of movies is included in the fundamental right of freedom of expression guaranteed by the Constitution. One of the reasons frequently assigned for imposing a ban is that it hurts the sentiments of a certain section of people in society. 'Hurt feelings' is a slippery slope for banning expression. Any book or movie or play which criticises certain practices and advocates reforms will 'hurt' the sentiments of the status-quoists. For example, the abolition of Sati or the abolition of certain superstitious practices in the name of religion. Criticism should not be equated with causing offence. In the context of hurt feelings, the Supreme Court has repeatedly laid down that the standard to be applied for judging the film should be that of an ordinary man of common sense and prudence and not that of "hypersensitive" persons who sense offence in every scene or perceive hurt in every statement. The right method is to vigorously refute the criticism by rebutting its reasoning and data on which its conclusions are based.

Another ground for imposing a ban is the bogey about apprehension of breach of law and order and outbreak of violence in view of threats by certain groups about the exhibition of the movie. As far back as November 2000, the Supreme Court in *KM Shankarappa's* case categorically ruled that "once an expert body has considered the impact of the film on the public and has cleared the film, it is no excuse to say that



there may be a law and order situation. ... In such a case, the clear duty of the government is to ensure that law and order is maintained by taking appropriate actions against persons who choose to breach the law.”

The same bogey of breach of law and order and violence was raised by the State of Tamil Nadu regarding exhibition of the movie, Ore Oru Gramathile. The Supreme Court firmly rejected the State’s plea in its decision in Rangarajan in March 1989 in these words: “Freedom of expression cannot be suppressed on account of threat of demonstration and processions or threats of violence. That would tantamount to negation of the rule of law and a surrender to blackmail and intimidation.” The Court reiterated that “it is the duty of the State to protect freedom of expression. The State cannot plead its inability to handle the hostile audience problem. It is its obligatory duty to prevent it and protect the freedom of expression.” It is noteworthy that the Supreme Court endorsed the celebrated dictum of the European Court of Human Rights that freedom of expression guarantees “not only views that are generally received but also those that offend, shock or disturb the State or any sector of the population. Such are the demands of that pluralism, tolerance and broadmindedness without which there is no democratic society.”

During the hearing of the writ petition regarding the movie Dam999, certain observations were made orally off the cuff by the Supreme Court about law and order problems that may arise because of the exhibition of a movie. The writ petition was

in fact dismissed as infructuous because the period of the ban had expired. There is no mention or discussion of the decision in Rangarajan at all in the operative part of the Supreme Court order. The salutary principle laid down in the Rangarajan decision has been approved in three subsequent decisions of the Supreme Court. It firmly holds the field and has not been diluted at all.

In contravention of the law

Banning of the movie Vishwaroopam by the State of Tamil Nadu was clearly in contravention of the law laid down by our Supreme Court. The sad part is that Kamal Haasan, producer of the movie, agreed to carry out cuts in the movie as demanded by certain Muslim groups. It was not a settlement but surrender by Mr. Haasan albeit for pragmatic reasons. However it lays down a bad precedent because it concedes to certain intolerant groups demanding a ban, a veto or appellate power over the decision of an expert body like the Censor Board.

Our Constitution prescribes certain fundamental duties to be performed by citizens (Article 51-A). One duty of paramount importance which should be performed is the duty to practise tolerance. Otherwise democracy, a basic feature of our Constitution, will be under siege and the cherished right to freedom of expression will be held hostage by an intolerant mindless mob.

Courtesy :- The Hindu

(Writer is former Attorney General of India)





Small Children, Big Dreams

• MATHANGI SUBRAMANIAN

In a small town in Karnataka, government-school students are working to ensure that their schools meet the infrastructure norms of the RTE Act. Can this model be replicated elsewhere in the country?

Kishore Mahadevaiah, a Std VII student, is describing his ideal school. “The school should be very clean and neat. In every class, there should be teaching and learning materials and sports materials and qualified teachers. And there should be a van to bring us from our homes.” He leans forward as he speaks, his eyes widening as if he is looking directly at the place he envisions. “Basically, they should get all the facilities in the school, and every class should have one room and a teacher for every subject. Every child should have a computer.”

It’s a hazy Saturday morning in Ramanagara, a small town in Bannikuppe Gram Panchayat that is famous for its silk production and striking rocky landscape. A dozen children sit cross-legged around Kishore on the striped green carpet spread across the floor of an unassuming three-roomed building set slightly back from the bustling traffic and nod in agreement. These children share Kishore’s belief that his dream school can become indeed, must become more than just a dream. In fact, these students have made it their mission to turn their

educational dreams into reality.

Kishore is the president of the office-bearers’ committee of the Makala Kavalu Samiti, MAKASA for short. In English, they call themselves the Children’s Vigilance Committee for the Effective Implementation of the Right to Education (RTE). Once a month, these government school students all of whom were elected by their peers gather to compare and exchange notes on the infrastructure and education related issues in their schools, brainstorm ways to address individual challenges, and enjoy the company of peers and adults who believe, like they do, that education is a fundamental human right.

In fact, the government of India agrees with them: the passage of the landmark Right of Children to Free and Compulsory Education Act of 2009 provides the national legislative framework that these children use to advocate for themselves and their communities. Because of the Act (known colloquially as the Right to Education Act, or RTE for short), India has pledged to do more than just simply build schools. Instead, it has promised to create an



educational system with minimum standards for everything from teacher qualifications to curriculum to infrastructure. Consequently, local stakeholders are able to invoke RTE to demand resources for improving government schools —and what stakeholders are more important than the students who attend these schools on a daily basis?

One of the most promising aspects of the law is the requirement to form school monitoring committees consisting of parents, teachers, and other stakeholders, including students. (In Karnataka, where MAKASA meetings take place, they are known as school development monitoring committees, or SDMCs.) The committees empower local parents and students to monitor local administration of RTE. This task is particularly pressing given the rapidly approaching March 31, 2013 deadline, when the infrastructure norms prescribed in the schedule to the Act are supposed to be fully implemented.

As the MAKASA office-bearers will tell you, there is still much to be done, especially when it comes to infrastructure. According to RTE, every school should have basic amenities including clean and safe drinking water, functioning toilets separated by gender, adequate teaching and learning materials, a library, and a playground. Plus, the schools should be clean and neat, as Kishore described.

Rather than simply complaining about the gaps between implementation and reality, the MAKASA students have taken an active role in addressing them. Std IV student Usha Kemmaraiyah, for example, convinced her school in Avaragere to clean up the school yard. Std V student Chandana worked with

her school at Kethiganahalli to renovate dilapidated classrooms; one is already finished. Another Std V student Bhavyashri Govindaraj successfully advocated for regular access to clean drinking water in her school in Kempadyapanahalli.

The students of MAKASA base their advocacy on a comprehensive understanding of their rights under RTE. Bhavyashri explained, “The main use [of RTE] is that no child should be outside, all children should attend schools compulsorily. All children should know all their rights. They should get quality education.” The Std V student clearly articulates an important distinction between most other education laws and RTE: education is more than just attending a school. It’s attending a good school.

The MAKASA was the brainchild of Dr. Niranjan Aradhya, Fellow and Programme Head of the Right to Equitable Quality Education Programme at the Centre for Child and the Law (CCL) at the National Law School of India University. A long-time advocate for education as a human right, Dr. Aradhya describes himself as an academic and an activist who believes in “critical and constructive engagement with the state”.

His actions support his claim: he is in the field almost every day, and can rarely be found behind his desk at the University.

Dr. Aradhya believes that RTE represents ideological progress that must be translated into action to realise its full potential. He emphasises, “We must remember there is a difference between the RTE act and RTE as a fundamental human right. Enactment is only a small procedure to move towards RTE as



a larger goal.”

In the interest of this goal, Dr. Aradhya and his staff organised the children, trained local adults to facilitate meetings, and created systems to help the children learn and utilise levers of change. They created a training guide for the children, and Dr. Aradhya himself routinely facilitates MAKASA meetings at the three-room Field Extension Office. Additionally, Dr. Aradhya and his staff at CCL help students monitor progress on their various cases. For example, he created a form in Kannada that students fill out and submit to the School Development Monitoring Committees (SDMCs) or, if the complaint goes unanswered, to Gram Panchayats. The student keeps a copy, the government body keeps a copy, and CCL keeps a copy to monitor the case.

MAKASA has celebrated a number of victories within the Gram Panchayat in Ramanagar district where they work. But the experience has also been transformative for students who now identify themselves as part of a collective of advocates who have a strong voice within their communities and an understanding of their schools as part of a larger system.

“Before, they had no space to air questions, and they didn’t know about problems in other schools,” Dr. Aradhya said.

According to Kishore, that has changed. “This helps us know what is there in other

schools so we can compare.” Kishore and his peers say that knowing what other schools have helps them identify the deficiencies in their own buildings, and emboldens them to ask for what they believe they deserve. In fact, when asked to identify the best thing about MAKASA, the children almost unanimously agreed that it was making new friends — including adults. As Std V student Lakshmidevi Kumar put it, “The best things are good friends, good teachers, and good masters.”

The committees empower local parents and students to monitor local administration of RTE. This task is particularly pressing given the rapidly approaching March 31, 2013 deadline, when the infrastructure norms prescribed in the schedule to the Act are supposed to be fully implemented.

The office-bearers represent the highest committee in a chain of elected representatives. In Bannikuppe Gram Panchayat, there are 14 schools, each of which has student representatives on their SDMCs: one boy and one girl. These student representatives come together to constitute the

executive committee of MAKASA. The executive committee in turn elects the office-bearers — at least one from each school — that make up MAKASA. As Std VII student Satish Kaggalappa from Bairagi Colony says proudly, “We elected the committee in a very democratic way.”

This is one of many lessons in good governance that MAKASA students learn. Prathima N., a village education coordinator from the panchayat who holds a Masters in social work, notes, “Their [the children’s] leadership has increased. They have



developed a questioning attitude, and they are able to identify problems.”

Not all the adults in the community recognise the children’s potential. Shashikala Ramachandraiah, the assistant village education coordinator for her panchayat, notes, “Still the attitude in the panchayat is not up to the mark.” She says that children do not receive formal responses from panchayat members, who are much more professional when interacting with adults. However, she says that MAKASA is slowly changing this. “At least the panchayat is recognising children have rights and they can also certainly tell us.”

A turning point was the annual children’s Gramma Sabha meeting this past December. During this meeting, Dr. Aradhya helped the children create a presentation detailing the infrastructure issues that compromised their ability to learn. The problems the children identified range from crumbling compound walls to snake infestations to a lack of clean drinking water.

The children had a colossal effect. Dr. Aradhya remembers, “The president said, ‘the children have asked for so much and I have nothing to say.’ He said he would talk to them in three months when he started resolving the issues.” Dr. Aradhya remembers that he had tears in his eyes when he realised the impact that the children had.

Kumaraswamy, another staff member in the team, believes that this reaction is symptomatic of the power of children. “When an adult is presenting a problem, there are chances of politicising it. Because, in one way or another, an adult always belongs to some political party. In the case of children,

one is their innocence; another, they are not into any kind of politics..” This purity of motive, he believes, can be transformational.

The panchayat members who support MAKASA believe that Dr. Aradhya has created a promising model that can be widely replicated, if local adults are willing to put in the time to receive training and facilitate meetings.

Unfortunately, the majority of letters in Dr. Aradhya’s file have gone unanswered. Many schools still lack basic amenities including clean drinking water, proper toilets, and useable playgrounds. Panchayats, who are ultimately responsible for RTE implementation, often lack the resources to meet minimum quality standards, even if they support them. Dr. Aradhya believes that this problem should be addressed in future budgets, which must prioritise improving existing government schools rather than investing in private schools or attempting to create a new system from scratch.

In Bannikuppe Panchayat of Ramanagara, at least, it is unlikely that the infrastructure requirements of RTE will be met by the March 31 deadline. However, the children of MAKASA represent the great hope embedded in the framework of RTE. Fundamentally, the act gives India’s people and, especially, India’s children the power to make their dream schools into realities. This is the Act’s greatest contribution: it is based on the revolutionary idea that we all have the responsibility to help children make their dreams come true.

Courtesy :- The Hindu





Burying democracy in human waste

● PRABHA SRIDEVAN



Every day that the practice of manual scavenging continues is another day that negates the right to a life of dignity for those still forced to engage in this demeaning work

The Supreme Court had recently admonished a District Magistrate for filing a “wrong” affidavit stating that there was no manual scavenging in his district. Just a day earlier, Union Minister of Rural Development Jairam Ramesh had publicly apologised for the continuance of the practice of manual scavenging. And I thought of a documentary on manual scavenging that has haunted me ever since I saw it.

It is really what is described as an “in your face” documentary. A scene is of a small girl in a blue frock, and with liquid eyes — what in Tamil we would call “Neerottam.” She answers the questions about her experience in school (what I give below is not a verbatim reproduction of the script, but an imperfect one).

“Did you like school?”

“Yes.” (A shy smile)

“What happened?”

“I stopped.”

“Why?”

“I used to sit in the front row. Then my classmates did not want me to sit next to them. So the teacher asked me to move to the last

row. I went for some days. Then I stopped.”

This did not happen decades ago, but in this day and age. It must have been a government school. Where else will a poor Bhangi’s child go? Article 17 of the Constitution states: “Untouchability is abolished.” If a government schoolteacher can ask a child to go to the back row because her classmates do not want any contact with her, when was it abolished?

Let us all feel on our skin the sandpaper-rub of exclusion. We are not done with that little girl yet. The camera stays on her face, while she looks back at us. Slowly those deep eyes, which have known a pain that no eight-year-old should, well up with tears and she whispers:

“I wanted to become a nurse or a teacher.”

Fraternity, we promised ourselves; fraternity assuring the dignity of the individual and the unity and integrity of the nation. What does fraternity mean? Dr. Ambedkar said, when the Constitution was in the making, that: “Fraternity means a sense of common brotherhood of all Indians of Indians being one people. It is the principle which gives unity and solidarity to social life. It is a difficult



thing to achieve. Castes are anti-national, in the first place, because, they bring about separation in social life. They are anti-national also because they generate jealousy and antipathy between caste and caste. But we must overcome all these difficulties if we wish to become a nation in reality. For fraternity can be a fact only when there is a nation. Without fraternity, equality and liberty will be no deeper than coats of paint." The truth must be told, we have not overcome. Why else did the teacher ask that child to sit away from her classmates?

How do we apologise to her for the insult to her dignity, the vandalism of her dreams, and the destruction of her desire? How do we make amends? Can we, in one lifetime, do it? This was a denial of fraternity, a violation of the basic principle of democracy. We, the units of humanity, are interconnected and respect for each other is a sine qua non of all human interactions. There can be no dilution or compromise on this. It is not dependent on who the one is or who the other. This interconnectedness is fraternity the spirit that assures and affirms human dignity. That is why it is imperative that fraternity informs all State actions and all social transactions. The dynamics between equality and fraternity work like this: in the absence of substantive equality, there will always be groups whose dignity is not acknowledged resulting in a negation of fraternity. Of the five senses, touch is the least understood. But it is the only sense that establishes fraternity that also establishes kinship. A bridge is built when you touch another in kinship in a way that it is not when you look at, talk to or listen to the other. And

"a continent of persons" within India has been denied that "touch," that kinship. It is because we have not understood the principle of fraternity, that there is no "they" and "us," there is only "us."

2010 DEADLINE

That young girl of the broken dreams was born to parents who are manual scavengers. This is a group to which the right to fraternity is consistently and brazenly denied, and the most marginalised of marginalised groups. It is acknowledged in public meetings that manual scavenging is a human rights issue and not about sanitation. We read in the newspapers that this practice would soon be banned and that we would become Nirmal Bharat. But it continues. Even if the winds of change are blowing, for the condemned ones even yesterday is not soon enough, any of the yesterdays. There have been many deadlines for eradicating this practice, one such final deadline was March 31, 2010. Deadlines have come and gone. But manual scavengers continue their work, anaesthetising themselves with drinks and drugs from these assaults on their dignity. Their lives are a daily negation of the right to a life with dignity though they have court orders affirming that right.

When a teacher asks a child like the one whom we met earlier what her father does for a living, what would she say? "My father carries all your filth on his head?" She probably remains silent. If she speaks those words, her classmates would not see it just as another job. No, it is a job that has to be done by the "other," so "our" houses "within" will remain clean, and "the other" after



cleaning the house will go outside the margin and remain “unclean.” She would be asked to sit away from the rest. So, she is silent.

‘WHAT DO YOU KNOW?’

I once heard at the National Judicial Academy, an excruciatingly painful experience shared by Bezwada Wilson, who campaigns against manual scavenging. He had seen some persons who were manual scavengers, digging in a pile of excreta.

He asked, “What are you doing?”

“The pail has got buried in the filth; we are trying to retrieve it.”

“So you will dig there with your hands?”

“If we do not get it back, we cannot do our job tomorrow, and we will not get paid. What do you know?”

He said, “I walked and walked for a long time out in the fields and I stood there and cried to the moon, I cried to the wind, I cried to the water, I cried and I asked why?”

In his book “The Strange Alchemy of Law and Life,” Justice Albie Sachs of South Africa writes, “There are some things human beings cannot do to other human beings.” He said it in the context of torture; it is just the same in the context of this abomination. The Supreme Court in *State of M.P. vs. Ram Krishna Balothia* (1995 SCC (3) 221) rejected the attack on the provisions of the Scheduled Castes and the Scheduled Tribes (Prevention of Atrocities) Act 1989, saying that a special legislation to check and deter

crimes against them committed by non-Scheduled Castes and non-Scheduled Tribes is necessary, in view of the continued violation of their rights. S.3(1)(ii) of this Act says: “Whoever, not being a member of a Scheduled Caste or a Scheduled Tribe acts with intent to cause injury, insult or annoyance to any member of a Scheduled Caste, or a Scheduled Tribe by dumping excreta ... in his premises or neighbourhood,” is punishable.

But the work of manually lifting and the removal of human excreta is inextricably linked with caste and is another form of “dumping.”

Mr. Wilson writes in his Foreword to Gita Ramaswamy’s book “India Stinking ...” (2005) that, “(A)n estimated 13,00,000 people from dalit communities continue to be employed as manual scavengers across the length and breadth of this country — in private homes, in community dry latrines managed by the municipality, in the public sector such as railways and by the army.” This is why the heart of a little girl who wanted to become a nurse was broken and she dropped out of school. There are some things one human being does not do to another human being.

(Writer is a former Judge of the Madras High Court, is Chairperson, Intellectual Property Appellate Board.)

Courtesy :- The Hindu



“Action will remove the doubt that theory cannot solve.”

– *Petryl Hsieh*



Innovate against child deaths

● GAGANDEEP KANG



As with the development of the rotavirus vaccines to combat diarrhoea, India has the capacity and resources to address the country's most pressing health issues

Among countries with comparable development indicators, India has the potential to address many of its challenges with unique home-grown resources. The information technology sector, for example, has transformed the country's economy and is currently helping expand access to a wide range of quality services for some of the poorest in India. India's space and atomic energy programmes are outstanding examples of indigenous technical ingenuity.

As economic growth continues to decelerate, it is critical that we do not forget the important role of indigenous scientific innovation, in particular, to improve livelihoods and promote well-being. To reiterate what Jawaharlal Nehru said: "It is science alone that can solve the problems of hunger and poverty, of insanitation and illiteracy."

Child health is one area where investments in innovation can result in tremendous social and economic returns. India nearly halved child mortality rates between 1990 and 2010. Improved health-care services and access to simple health interventions, such as oral rehydration therapy (ORT) to address severe cases of diarrhoea, have contributed to this encouraging reduction of child deaths.

Link with malnutrition

However, in 2010, experts estimate that almost 17 lakh children less than five years of age died in India. This is still far too many. Pneumonia and diarrhoea, together, account for a significant proportion of these deaths. There are even more hospitalisations and outpatient visits from these two diseases. They each take a tremendous emotional and financial toll on Indian families and we need to take these threats seriously. It is unacceptable that children die of preventable and treatable illnesses. All families in India deserve equal access to health innovations that could help children and protect children.

Diarrhoea is caused by several different organisms and is most often spread through contaminated food or water and person-to-person contact. Certain types of diarrhoea are more serious than others. Acute watery diarrhoea is associated with rapid dehydration that can last for hours or even days. If fluids and electrolytes are not replenished, diarrhoea can be life threatening. Children who suffer from malnutrition are more vulnerable to the causes of diarrhoea. In an unfortunate twist, diarrhoea also in turn perpetuates malnutrition and leaves children prone to infections.



To address an issue such as diarrhoea, safe water and sanitation do matter, but require large-scale investment in infrastructure and in maintenance by the government. For individual and community level management of diarrhoea, you need to bring the lab to the field to understand what causes the disease. Some of the first studies here aimed to determine the cause of severe diarrhoea in India the kind that causes life-threatening dehydration. Researchers found that a viral pathogen called rotavirus was the most common cause. Rotavirus is of particular concern because it is so ubiquitous, leaving nearly all children rich and poor at risk. However, outcomes vary greatly depending on the family's circumstances. For a child of high socioeconomic status with consistent access to care, the virus will likely cause only minor illness. For less fortunate children, it could be a death sentence if appropriate care is not provided or is provided late in illness.

Use this package

To reduce the burden of diarrhoea in India, we must try to reach all children with a comprehensive package of proven interventions. This includes access to ORT, zinc supplementation, exclusive breastfeeding for the first six months of a child's life, and improvements in hygiene, sanitation and drinking water. However, because rotavirus is so contagious and resilient, these approaches alone will not adequately prevent diarrhoea. Vaccination against rotavirus offers significant hope for protecting children from this disease.

We know already that countries that have introduced rotavirus vaccines have experienced major reductions in severe diarrhoea. Several academic and research institutions in India, including mine, have been involved in the development of indigenous rotavirus vaccines that could, if all goes well, reduce the number of illnesses and hospitalisation due to diarrhoea.

If rotavirus vaccines were introduced at current immunisation levels, we could save tens of thousands of lives, and even more hospitalisation and outpatient visits. This could save India more than Rs.100 crore in annual medical costs. The savings to families would also be significant.

Having contributed significant funding, the government has been a terrific supporter of developing new rotavirus vaccines in India. As with the rotavirus vaccine development efforts, we have the resources and the capacity in India to address our most pressing health needs, if we use a strategic approach that prioritises problems and then makes a concerted effort to address them. However, development of a product such as a vaccine is not sufficient. We must also work together to develop and implement policies that ensure that everyone has access to the fruits of our scientific endeavours.

(Writer is a professor in the Department of Gastrointestinal Sciences at Christian Medical College, Vellore.)

Courtesy :- The Hindu





Pensions in the margins

● HARSH MANDER



The demand for a universal pension isn't an issue of charity, but of equal dignity and equal rights.

In villages I travel to in every corner of India, when I ask who are the poorest and most vulnerable among all households, the answers are remarkably similar. Almost everywhere, they speak of old people, single women and their dependants, and disabled and infirm people. It is these groups that live perennially at the edge of hunger: one health calamity or family emergency will push them directly into starvation. The same groups recur in conversations in urban slums (but here they also speak of much larger numbers of child-headed households single children or groups of siblings with no adult carers and houseless populations).

Survival is even more fragile for those people who combine several of these vulnerabilities for instance a blind, ageing widow living alone, or a homeless single woman with mental illness. A disabled man, who is also landless and dalit, will find it even harder to bring food to the plates of his children.

The country's most significant social protection programme is the Mahatma Gandhi NREGA, which legally guarantees every rural household 100 days of wage employment in public works. But many of these groups, which are most vulnerable to hunger, are effectively excluded even from wage work because they may lack the bodily strength required for hard manual work in an NREGA work-site due to age, disability or

illness. In most NREGA sites, I find old people with bent backs and aching limbs still trying to dig pits or break stones only to stay alive. Disabled persons are rarely permitted, and single women discouraged because most work is done in family groups. And the programme excludes cities.

It is remarkable that those who are popularly known to be most impoverished and vulnerable to hunger remain exiled to the margins of policy and public investment. Article 41 of the Constitution enjoins that "the State shall, within the limits of its economic capacity and development, make effective provision for securing the right to work, to education and to public assistance in cases of unemployment, old age, sickness and disablement..."(emphasis added). But it was only in 1995 that the central government first launched an old age pension scheme, providing a modest Rs.200 to old people above 65 years who were officially identified to be poor, assetless and with no adult carers.

Our field studies establish that even this meagre assistance, difficult to secure because of stringent requirements and corrupt delivery mechanisms, still literally made the difference between life and death for old people, who otherwise had no option except to toil or beg until their last day if they were to eat. Many state governments supplemented the central government amount; others covered larger populations of



the aged. The central government eventually in 2007 lowered the age limit to 60 years, and expanded coverage to all aged persons who were identified to be 'BPL'. In 2009, pensions were extended to widows above 40 years, and to severely disabled persons (80 per cent disability), but these once again were restricted to the 'official' poor.

The site designated for public protests in the national capital, Jantar Mantar, has in recent months repeatedly seen an unusual motley assembly of impoverished aged persons, single women and some disabled groups, under the banner of Pension Parishad, demanding an enhanced universal pension. The central government agreed to undertake a comprehensive review of the national programmes for social assistance, and I was invited to be a member of the committee for this. The committee's report has many fine elements, especially in its recognition of many new vulnerable categories of single women, and the needs of less disabled persons. But in coverage and amount of pensions, it falls short of the unmet need too long delayed for fundamental revamping of the idea of social assistance in India.

But first, the many positive gains. The central government agrees to recognise the intense vulnerabilities of a range of single women beyond just older widows. Widows above 18 years will be covered, recognising the discrimination they face within families, in local communities and the market. Even more significant in the struggles of single women is the official acknowledgment, for the first time, of the enormous oppression in work and in social arrangements and customs of women who are separated, abandoned or divorced, and also women who never marry.

The 'half-widow' in areas of conflict whose spouse has been 'disappeared' by security forces, but because she has no evidence of his death, survives in the twilight zone between married and widowed women have also been recognised, for coverage after three years of his disappearance. All disabled people of any age with 40 per cent disabilities will also be covered.

However, the amount of pension fixed at Rs.300 is far too low, and without any rational basis. Even if we index for inflation the original amount of Rs.200, fixed in 1995, this would be Rs.700 today. But if we link it to minimum wages, and pensions are only a third of the minimum wage, we get around Rs.1320.

Even more gravely, the proposal continues the current targeting criteria based on BPL selection, which we know to be highly flawed, divisive and exclusionary. Official poverty lines are notoriously capricious: government studies themselves have established that if you are poor, there are more chances that you will not be identified by the administration to be officially poor.

Targeting therefore should be given up immediately, and except only for those who are wealthy or in the formal sector, there should be universal coverage of all old persons, single women and disabled people with pensions. The Pension Parishad rightly underlines that this is not a demand of charity, but of equal dignity and equal rights. If people in government and the formal private sector take for granted pensions as a right, why not those who have spent a lifetime in underpaid, uncertain, back-breaking work, and in penury, neglect and stigma?

Courtesy :- The Hindu



Gender justice, interrupted

● RATNA KAPUR

Death or longer prison terms for rape under a new law will not empower women; what they need is the safety to walk on the streets free from the fear of sexual violence

The adoption of the Criminal Law Amendment Act 2013 by the Indian Parliament is a moment to be neither celebrated nor mourned. It is a moment to pause and reflect over what exactly has been achieved ever since the Delhi gang rape and murder of the 23-year-old student, and what has been lost. The Act converges with the recent global spotlighting of violence against women, including the adoption of a declaration on the elimination and prevention of violence against women and girls at the recently concluded U.N. Commission on the Status of Women in New York. Both these interventions highlight how the safety and security of women and girls around the world remains an elusive goal.

Two formulas

The specific question that arises is just exactly how state and non-state actors achieve this goal. There are at least two dominant formulas that have emerged in this arena over the decades. The first is a rights agenda, where the rights of women and others oppressed by sexual violence are specifically recognised and then a legal and policy agenda for protecting these rights formulated. The rights to equality, bodily integrity and sexual autonomy, freedom of speech, including sexual speech, and safe

mobility, would be amongst those rights to be foregrounded and secured. The Verma committee, mandated with the task of recommending legal reforms to ensure women's safety, in part adopted this approach. The right to consensual adult sexual relations was the key area to be protected from discrimination and infringement through the adoption of a broad array of legal, policy, and educational initiatives.

The second approach is to foreground the state's role in ensuring the safety of its citizens by strengthening its security apparatus, including border controls, intensifying the sexual surveillance of citizens, disciplining the sexual behaviour of individuals and regulating and monitoring sexual conduct through law enforcement agencies. While autocratic states already pursue this route, there is a worrying trend of liberal democracies also adopting such an approach, including India. The move towards equating justice with the imposition of the death penalty or stringent prison sentences constitutes the lynchpin of this approach.

At least two factors have facilitated this approach towards security. Ever since the global war on terror, states have been accorded a justification for curbing human



rights in the interests of the security of the nation and its citizens. Rendition, water boarding, incarceration without due process, have all been justified on this ground. A second factor is that non-governmental organisations, including those women's groups with a zealous focus on the issue of sexual violence against women, have not paid sufficient attention to the promotion of women's sexual rights, except for some forays into the area of reproductive rights. This focus on violence against women has been warmly welcomed by dominant players in the international legal arena. Global violence against women has been recognised as a human rights violation; rape has been incorporated as a war crime in the Rome Statute; and sexual violence in conflict and post-conflict has been specifically addressed by Security Council resolutions. While the focus on violence is important, the mechanism through which it has been addressed has not necessarily been empowering for women. These interventions have not destabilised the dominant understanding of women as victims and female sexuality as passive; nor have they toppled the gender stereotypes that inform all of these initiatives.

The constant justification for a focus on the criminal law to address violence against women has been that prevention will take time. However, criminal law initiatives that further entrench a sexually sanitised regime fail to distinguish between sexual speech and unwelcome remarks, and target all sexual behaviour that does not conform to a sexually conservative script as reprehensible, make the battle to centre rights all that much harder. The new law in India retains the language and provisions dealing with the

“outraging of the modesty” and chastity of a woman and then simply expands the range of activities that threaten or blemish this antiquated understanding of female sexuality. This approach cannot be a recipe for empowerment nor foster progressive change in thinking on matters of sex and sexuality.

Perhaps the most significant and pervasive issue left unaddressed by the new law is the everyday sexism that pervades the workplace, the public arena, the media and the educational system. No amount of censorship of sexual images can address the problem of sexism, the performance of which was on full display in the Indian Parliament during the debates on the new law. While sexual harassment, including unwelcome sexually coloured remarks, is criminalised, a focus on deterrence does not eradicate sexism nor produce respect for women. It merely empowers the state and the criminal law.

Unchallenged stereotypes

Leaving sexism and gender stereotypes unchallenged is likely to have a boomerang effect. The new laws will be used to go after individuals and communities who transgress or challenge established norms, or are already sexually stigmatised, marginalised, and viewed with suspicion. Sex workers may continue to be regarded per se as trafficked under the ‘sexual exploitation’ provisions. Merely extending the tentacles of the criminal law into their everyday lives without affording them rights with which to fight the violence and the exploitation they experience will force these women into more clandestine and exploitative situations and, ironically, increase their vulnerability to being trafficked. Similarly, gay men might be left with little



protection from the sexual violence they experience as they have not been accorded the right to consensual sexual relationships. In fact, the new sexual regime will leave them more vulnerable to allegations of criminality, perversion and continued stigma. Muslim men might continue to be targeted as being more rapacious and lascivious especially in the States ruled by the Hindu Right. Female migrants will be targeted as trafficked victims and continue to be incarcerated in the name of protection; and young people will continue to have “pre-marital” sex, clandestinely, and often under unsafe conditions, now that the age of statutory rape has been retained at 18.

The exclusion of marital rape from the purview of the new law reinforces the sexual prerogative of husbands, leaving some women wondering why they should get married if it means they would enjoy fewer rights. And the fundamental question remains whether this expanded legal edifice will be able to stop the kind of attack that occurred on the Delhi bus last December.

The reactions to the U.N. Declaration and debates on the new criminal law in India furnish telling insights on the extraordinary levels of resistance to the very idea of the right to sexual autonomy and gender justice on the part of dominant groups, and the subsequent scramble to reinforce the rights of an already overprotected male elite. In New York this was evident in the debate on the declaration. The Muslim Brotherhood claimed that the declaration would lead to a “complete disintegration of society” and decried the possibilities of allowing women to prosecute husbands for rape or sexual harassment. Others such as the Vatican were concerned over references to access to

emergency abortion, and sexually transmitted diseases.

In India, the new law represents a trend in South Asia to equate justice with the death penalty and stringent imprisonment terms. Yet empowerment for women cannot lie in merely attaching a death sentence on to the crime of rape, or increasing the mandatory minimum sentences for rape. How will these measures act as deterrents when indeed such changes will see the already low conviction rate for rape plummet even further? Empowerment rests in the ability of women, sexual minorities, and religious minorities to be able to walk on the streets free from the fear of sexual violence, sexual harassment and rape.

The young women and men born in the crucible of globalisation and neo-liberal economic reforms are unlikely to be discouraged from demanding a gender-friendly and egalitarian workspace. And there is still a possibility that the new law in India will be challenged in the Supreme Court for violating women’s right to equality as well as excluding sexual minorities from its protection. The protests after the Delhi rape were demanding justice in the form of more freedom not autocracy, respect not fear, and a more egalitarian society, not a reaffirmation of the established gender and sexual hierarchies of power. The old order has definitely been shaken, and its values based on exclusion and prejudice have undoubtedly passed their expiry date.

*(Writer is Global Professor of Law,
Jindal Global Law School)*

Courtesy :- The Hindu





Age is not just a figure

● Lalita Panicker

Our respect and caring or the elderly is very much a part of our collective hypocrisy. Geriatric care is a very grey area in India.

In the disturbing movie, *The Ballad of Narayama* directed by Shohei Imamura, the elderly are the victims of a supposedly ancient Japanese tradition. Having outlived their utility at the age of 70, they are taken by their kinsfolk to a desolate and remote place and left to die of exposure to the elements or starvation. Now this may be an imaginary place but in an extreme manner it raises the plight of the elderly in societies that do not have any safety net for them.

In India, we have been happy to deceive ourselves that ours is a caring society where the family will take care of its elderly, paying them back for the sacrifices that they have made to strengthen and nurture the family unit. Indeed, in many Hindi movies, the older generation is seen as the font of wisdom and joyous participants in family occasions. To many of us, the western tradition of putting older people in homes is abhorrent. In India, such facilities are few and far between and

most of us would consider this alien to our culture. It would somehow diminish us in the eyes of society and of our peers if it were known that we had put a parent or elderly relative in an old age home.

This, however, should not be as unacceptable as it seems. Very few old people have the resources or physical reserves to manage things on their own. Few states have easily accessible medical care or services to cater to the elderly. In fact, in joint family systems, the health of the elderly often does not take precedence over that of the 'earning' members and the young.

Instead of Depending on Their Children, Old People Should Have the Choice of Living in Assisted Surroundings. In the Case of Those who cannot afford It, The State should consider investing more in facilities for the elderly

The need for specialised geriatric care is still a rare concept in India. States like Kerala are perhaps the exception, but then healthcare itself is vastly different there than in other states. This was brought home to me, a staunch and now somewhat repentant critic of the Kerala development model, when my father recently had a massive heart attack.



At 2 am, a fully medically equipped ambulance reached my parents' countryside home through winding roads with no signs within 12 minutes of the attack. The nearest hospital in a small town was so well-equipped, the chief cardiologist Vellore-educated Dr George Koshy, so remarkably competent, that his team was able to save my 88-year-old father. But things could have turned out very differently for my parents, living alone in the quiet countryside, had they been in another state without easy access to medical care. In Kerala, if you can afford it, medically trained help is available at home, an option many elderly people chose over living with their children. Even hospitals in small towns have world-class doctors, have state of the art technology and compared to metros are reasonably priced. So the elderly have more than a fighting chance of surviving serious ailments.

I have often felt that it is children burdened by the guilt of not sparing enough time for their parents who think that they need to move in with them in their old age. Very often, people like my parents, value their independence far too much to want to live with their children. The fact that our parents do not need us is in some way upsetting to many of us. We simply refuse to accept that they do not want to adjust to our lifestyle or be grateful that we have invited them into our lives and homes. The main problem is that they don't have the facilities, like accessible and affordable medical care customised for the elderly, to exercise that independence. In fact, we have very few services of any sort that cater to the aged.

Very long ago, a prescient proprietor of a newspaper I worked for told me what I then

thought was a loopy idea. In hindsight the proprietor seems possessed of clairvoyant abilities. I was told that India should charge a fee to countries like Japan to send its aging people here where an army of geriatric care



The fact that our parents do not need us is in some way upsetting to many of us. We simply refuse to accept that they do not want to adjust to our lifestyle or be grateful that we have invited them into our lives and homes. The main problem is that they don't have the facilities, like accessible and affordable medical care customised for the elderly, to exercise that independence. In fact, we have very few services of any sort that cater to the aged.



professionals would look after them till the end of their days. The old would benefit as would the Indian exchequer. Now, that is a thought for some smart entrepreneur.

However, in states like Kerala where the life expectancy is 72, geriatric care is becoming a booming industry. Professionals trained to deal with the needs of the aged are being churned out. It is one state where the concept of trained home medical attendants



is now the norm. The state from which the young seem to flee for lack of job opportunities now has a staggering number of old people left to fend for themselves. If they live with their families, they are often subject to mental and physical abuse, made to work as unpaid servants and generally considered as being way past their shelf life.

What we need is more old age homes where the elderly can live with dignity and not be made to sing for their supper. There have been many instances of NRIs carting their parents off abroad and expecting them to double up as housekeepers and babysitters. The successful children are often ashamed of their parents, their inability to speak English and fit in with life abroad. I have come across several cases of old people committing suicide, driven to despair in an alien environment.

Instead of depending on the vagaries of their children, old people should have the choice of living in assisted surroundings. In the case of those who cannot afford it, the state, which pays so much attention to its young population, should consider investing more in facilities for the elderly. For the most part, they seem to be an invisible part of our society both in the family and in official policies.

Like our so-called reverence for women, our respect and caring for the elderly is also very much a part of our collective hypocrisy. Real life is not all about dutiful children listening to granny's home remedies and homilies. Even the best intentioned are often too busy or otherwise preoccupied to pay the elderly the attention they need both emotionally and physically. Another aspect is that today, the well-heeled older person is not content to sit around knitting socks or joining laughter clubs. They seek adventure in the form of travel or even romance. This is not always welcomed by their offspring who are almost ashamed that their parents have worldly desires after a 'certain' age. While this may be a minuscule section, we need to shake off our patronising attitude to the elderly.

With its young population, India is in a position to take the lead in geriatric care both for domestic reasons and even for the international market. This will generate both employment and better care for the aged.

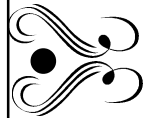
Geriatric care is a very grey area today in India. The elderly deserve a little more clarity than that.

Courtesy :- Hindustan Times



“Procrastination is the bad habit of putting off until the day after tomorrow what should have been done the day before yesterday.”

– *Napoleon Hill*





The past & present of Indian environmentalism

● RAMACHANDRA GUHA



Polluted skies, dead rivers, disappearing forests and displacement of peasants and tribals are what we see around us 40 years after the Chipko movement started



On the 27th of March 1973 exactly 40 years ago a group of peasants in a remote Himalayan village stopped a group of loggers from felling a patch of trees. Thus was born the Chipko movement, and through it the modern Indian environmental movement itself.

The first thing to remember about Chipko is that it was not unique. It was representative of a wide spectrum of natural resource conflicts in the 1970s and 1980s conflicts over forests, fish, and pasture; conflicts about the siting of large dams; conflicts about the social and environmental impacts of unregulated mining. In all these cases, the pressures of urban and industrial development had deprived local communities of access to the resources necessary to their own livelihood. Peasants saw their forests being diverted by the state for commercial exploitation; pastoralists saw their grazing grounds taken over by factories and engineering colleges; artisanal fisherfolk

saw themselves being squeezed out by large trawlers.

Social justice and sustainability

In the West, the environmental movement had arisen chiefly out of a desire to protect endangered animal species and natural habitats. In India, however, it arose out of the imperative of human survival. This was an environmentalism of the poor, which married the concern of social justice on the one hand with sustainability on the other. It argued that present patterns of resource use disadvantaged local communities and devastated the natural environment.

Back in the 1970s, when the state occupied the commanding heights of the economy, and India was close to the Soviet Union, the activists of Chipko and other such movements were dismissed by their critics as agents of Western imperialism. They had, it was alleged, been funded and promoted by foreigners who hoped to keep India



backward. Slowly, however, the sheer persistence of these protests forced the state into making some concessions. When Indira Gandhi returned to power, in 1980, a Department of Environment was established at the Centre, becoming a full-fledged Ministry a few years later. New laws to control pollution and to protect natural forests were enacted. There was even talk of restoring community systems of water and forest management.

Meanwhile, journalists and scholars had begun more systematically studying the impact of environmental degradation on social life across India. The pioneering reportage of Anil Agarwal, Darryl D' Monte, Kalpana Sharma, Usha Rai, Nagesh Hegde and others played a critical role in making the citizenry more aware of these problems. Scientists such as Madhav Gadgil and A.K.N. Reddy began working out sustainable patterns of forest and energy use.

Through these varied efforts, the environmentalism of the poor began to enter school and college pedagogy. Textbooks now mentioned the Chipko and Narmada movements. University departments ran courses on environmental sociology and environmental history. Specialist journals devoted to these subjects were now printed and read. Elements of an environmental consciousness had, finally, begun to permeate the middle class.

Changing perception

In 1991 the Indian economy started to liberalise. The dismantling of state controls was in part welcome, for the licence-permit-

quota-Raj had stifled innovation and entrepreneurship. Unfortunately, the votaries of liberalisation mounted an even more savage attack on environmentalists than did the proponents of state socialism. Under their influence the media, once so sensitive to environmental matters, now began to demonise people like Medha Patkar, leader of the Narmada movement. Influential columnists charged that she, and her comrades, were relics from a bygone era, old-fashioned leftists who wished to keep India backward. In a single generation, environmentalists had gone from being seen as capitalist cronies to being damned as socialist stooges.

Environmentalists were attacked because, with the dismantling of state controls, only they asked the hard questions. When a new factory, highway, or mining project was proposed, only they asked where the water or land would come from, or what the consequences would be for the quality of the air, the state of the forests, and the livelihood of the people. Was development under liberalisation only going to further intensify the disparities between city and countryside? Before approving the rash of mining leases in central India, or the large hydel projects being built in the high (and seismically fragile) Himalayas, had anyone systematically assessed their social and environmental costs and benefits? Was a system in which the Environmental Impact Assessment was written by the promoter himself something a democracy should tolerate? These, and other questions like them, were brushed off even as they were being asked.



Steady deterioration

Meanwhile, the environment continued to deteriorate. The levels of air pollution were now shockingly high in all Indian cities. The rivers along which these cities were sited were effectively dead. Groundwater aquifers dipped alarmingly in India's food bowl, the Punjab. Districts in Karnataka were devastated by open-cast mining. Across India, the untreated waste of cities was dumped on villages. Forests continued to decline, and sometimes disappear. Even the fate of our national animal, the tiger, now hung in the balance.

A major contributory factor to this continuing process of degradation has been the apathy and corruption of our political class. A birdwatcher herself, friendly with progressive conservationists such as Salim Ali, Indira Gandhi may have been the Prime Minister most sensitive (or at least least insensitive) to matters of environmental sustainability. On the other hand, of all Prime Ministers past and present Dr. Manmohan Singh has been the most actively hostile. This is partly a question of academic background; economists are trained to think that markets can conquer all forms of scarcity. It is partly a matter of ideological belief; both as Finance Minister, and now as Prime Minister, Dr. Singh has argued that economic growth must always take precedence over questions of environmental sustainability.

An environmentally literate Prime Minister would certainly help. That said, it is State-level politicians who are most deeply involved in promoting mining and

infrastructure projects that eschew environmental safeguards even as they disregard the communities they displace. In my own State, Karnataka, mining barons are directly part of the political establishment. In other States they act through leaders of the Congress, the BJP, and regional parties.

In 1928, 45 years before the birth of the Chipko movement, Mahatma Gandhi had said: "God forbid that India should ever take to industrialisation after the manner of the West. The economic imperialism of a single tiny island kingdom (England) is today keeping the world in chains. If an entire nation of 300 million took to similar economic exploitation, it would strip the world bare like locusts."

The key phrase in this quotation is 'after the manner of the West.' Gandhi knew that the Indian masses had to be lifted out of poverty; that they needed decent education, dignified employment, safe and secure housing, freedom from want and from disease. Likewise, the best Indian environmentalists such as the founder of the Chipko movement, Chandi Prasad Bhatt have been hard-headed realists. What they ask for is not a return to the past, but for the nurturing of a society, and economy, that meets the demands of the present without imperilling the needs of the future.

In the 1980s and 1990s, the finest minds in the environmental movement sought to marry science with sustainability. They sought to design, and implement, forest, energy, water and transport policies that would augment economic productivity and



human welfare without causing environmental stress. They acted in the knowledge that, unlike the West, India did not have colonies whose resources it could draw upon in its own industrial revolution.

In the mid-1980s, as I was beginning my academic career, the Government of Karnataka began producing an excellent annual state of the environment report, curated by a top-ranking biologist, Cecil Saldanha, and with contributions from leading economists, ecologists, energy scientists, and urban planners. These scientific articles sought to direct the government's policies towards more sustainable channels. Such an effort is inconceivable now, and not just in Karnataka. For the prime victim of economic liberalisation has been environmental sustainability.

Corporate interests

A wise, and caring, government would have deepened the precocious, far-seeing

efforts of our environmental scientists. Instead, rational, fact-based scientific research is now treated with contempt by the political class. The Union Environment Ministry set up by Indira Gandhi has, as the Economic and Political Weekly recently remarked, 'buckled completely' to corporate and industrial interests. The situation in the States is even worse.

India today is an environmental basket-case; marked by polluted skies, dead rivers, falling water-tables, ever-increasing amounts of untreated wastes, disappearing forests. Meanwhile, tribal and peasant communities continue to be pushed off their lands through destructive and carelessly conceived projects. A new Chipko movement is waiting to be born.

(Writer's books include How Much Should a Person Consume? He can be reached at ramachandraguha@yahoo.in)

Courtesy :- The Hindu



"Notice that the stiffest tree is most easily cracked, while the bamboo or willow survives by bending with the wind."

– Bruce Lee

"The gem cannot be polished without friction, nor man perfected without trials."

– Chinese Proverb



Give back that forest, take back this city

● Hiranmay Karlekar



Trapped by his own brilliance, man has set himself up in a restless menagerie where he is in constant danger of cracking under stress. Environmental psychiatry may help reduce this stress through timely interventions.



A t a recent lecture at Vishva-Bharati University, Shantiniketan, the noted psychiatrist, Dr Sudhir Kakar, spoke of the need to develop a new branch of discipline : Environmental psychology. During a chat in the evening at the verandah of one of the guest houses of the university, Ratan Kuthi, he said that the environment played a major role in shaping human consciousness and was the background in which all human activity occurred. As such, it had to have a profound effect on the way people thought, felt and behaved. Given Rabindranath Tagore's deep love and respect for nature, Visva-Bharati was best suited to be the cradle for the new discipline.

The influence of environment on the way people think, feel and conduct their lives becomes obvious on comparing the lives of inhabitants of high mountains like the Himalaya with those of the dwellers of, say, equatorial Africa, or those of a desert where

water is acutely scarce with those of deltaic areas with abundant rainfall. Character traits evolve differently as the challenges one encounters in daily life extreme cold or extreme heat, soils that favour agriculture floriculture respectively differ. Failure to note the impact of environment on human thought and behaviour and frame policies accordingly, can be disastrous.

In his outstanding work, *The Human Zoo*, Desmond Morris points out, "The modern human animal is no longer living in conditions natural for his species. Trapped, not by a zoo collector, but his own brainy brilliance, he has set himself up in a huge, restless menagerie where he is in constant danger of cracking under the strain." Morris points out that biologically, human beings are still simple, tribal animals living in small groups, in which they lived "not for a few centuries but for a million hard years," during which "they did change biologically and





evolve spectacularly, moulded by the pressures of survival”, which were great.

Morris points out that during hundreds and thousands of years of evolution, human beings had become “increasingly adapted, both physically and mentally, both structurally and behaviourally” to the hunting way of life which had helped in developing their ingenuity and a mutual-aid system. “They learned quickly, remembered well, and were adept in bringing together separate elements of their past learning to solve new problems.”

Though innately competitive and self-assertive like their ancestors, the monkeys, their “competitiveness had become forcibly tempered by an increasingly basic urge to cooperate”, which held out their only hope of survival against the large and fierce carnivorous animals.

Humankind’s “adaptability and behavioural plasticity”, their ability to learn and adjust to more complex ways, were fully tested when the advent of agriculture and the domestication of animals took them to a new and unfamiliar form of social existence. It is important to note two things here. The basic character of agriculture, the plant and animals used in it, have remained the same over millennia. Mechanical and technological innovations have accounted for the increase in productivity that has occurred. Second, agriculture led to food surpluses, which played a critical role in the evolution of civilisation in that the “human tribe could now

support more members than were required to find food.” It could now not only grow bigger but release people to perform whole-time tasks other than finding food.

All this led not only to the age of specialisation but to the birth of the early towns as surplus led to first barter and then trade, the establishment of markets and the emergence of larger human settlements around markets. With time, human activities multiplied and grew more diverse. The towns grew into cities and mega cities. This created

Biologically, human beings are still tribal animals. But over time the tribe has become a Super Entity, resulting in a shift from the personal to the impersonal. This has caused the human animal much agony

a major problem. Human beings as a species, Morris points out, had evolved as tribal animals “and the basic characteristic of a tribe is that it operates on a localised, inter-personal basis. To abandon this basic social pattern, so typical of the ancient human condition, was going to go against the

grain.” The tribe became a super tribe where the individual did not know other members of the community. This shift from the personal to the impersonal society was going to cause the human animal its greatest agonies in the years to come.

Morris points out that as a species, human beings were not biologically equipped to cope “with a mass of strangers masquerading as members of their tribe”. The stress of collective existence was aggravated by the devices, social, economic and administrative, to hold the community together and facilitate its growing activities



which proliferated and became more complex as the community itself became so. This led to strife and violence. People's behaviour towards others became horribly cruel as human relationships became impersonal.

The validity of this wider societal analysis becomes clear on looking at individual behaviour. In *Fear of Freedom*, Erich Fromm points out that many seek to overcome the feeling of insecurity that grows in them as they grow up and become individuals, by masochistic surrender to a superior person or force (which could be a charismatic leader and/or a powerful organisation) or exercising sadistic physical or psychological domination over other persons. The former phenomenon, where people feel secure by identifying with, and feeling protected by, someone or some force, leads them to join a mass movement like that of Hitler's SS or the Taliban. The second propels one to become the leader or functionary of such a movement which satisfies the urge to dominate others. It is important to remember that the environment

comprises not just physical features like rivers or mountains but values, ideas, knowledge and opinion.

The discipline of the psychology of environment may not be able to root out the stress and violence that characterises the accelerating rush toward an increasingly urbanised world but may reduce the incidence of both through spreading consciousness and timely psychiatric and policy interventions.

And what better a seat can it have than Visva-Bharati which Tagore established in a sylvan setting, far from the frenetic life of cities. This, again, is hardly surprising, given his deep love for nature—mountains, rivers, forests, flowers, the seasons, rain and so on resonating in many of his songs, poems and other writings, and especially his oft-quoted lament.

"Dao phire shey aranya/ Laho e nagar". (Give me back that forest/ Take back this city).

Courtesy :- The Pioneer



"Live out of your imagination, not your history."

—**Stephen R. Covey**

"History repeats itself, has to, nobody listens"

—**Steve Turner**



Reform police force

● Dr. S.Saraswathi



Against the backdrop of Delhi gangrape case, a strong opinion is expressed from many quarters that all-round reforms are needed in the police system. Created in the mid-19th century by the British Government, the Indian Police organisation needs changes in role and strategies of the police. Criminology has changed a lot, introducing new perceptions on crime and punishment. The training of the police personnel has to change accordingly.

The demand for the ouster of the Police Commissioner of Delhi by protesters and some political parties after the gangrape incident in the heart of the nation's capital has done a great service in drawing the country's attention to the urgency for reforming police system and organisation in India.

In this incident, there is not only failure in preventing the crime, but a number of lapses in the enforcement of prescribed rules governing the crime, but a number of lapses in the enforcement of prescribed rules governing private vehicles, public transport, drivers, etc., due to total systemic failure that cannot be attributed to any particular official.

Police is an instrument of the State, and its power is the most important feature distinguishing the State from other associations in a society. However, the modern State is not a police State, but a welfare one where institutions and instruments are created and used for the good of the people. The police is one such institution with enormous powers to help both the Government and the people to carry on a peaceful and orderly life.

Therefore, a basic principle governing the police organisation is that it should play its role as envisaged in the system, discharge its functions and responsibilities with out fear or favour, and adhere to the mandate given to it by law. While it should not apply its coercive power arbitrarily, it should not also remain helplessly inactive when a situation demands immediate action to save life and property in danger. Citizens expect the police to be effective, humane, and responsive in all situations.

Today, a strong opinion is expressed from many quarters that all-round reforms are needed in the police system and functioning touching both theory and practice. Created in the mid-19th century by the British Government, the Indian police organisation has undergone some reforms from time to time but not to the extent needed or sought. Changing socio-political conditions and development and adoption of new rights and philosophies necessitate changes in the role and strategies of the police. Criminology has changed a lot, introducing new perceptions on crime and punishment. The training of the police personnel has to change accordingly.





Instances of police brutalities and custodial violence, and cases of police-criminals nexus are increasingly reported in the media, and have become almost regular column and feature. In India, perhaps due to the image created in the colonial days, the police is unfortunately never treated as "friends of the public", but as a monster to frighten children and make them obey.

While efforts are needed to change the negative image of the police, the idea of community policing is now and then mooted as a way of promoting people-police collaboration for better crime prevention. Why back in 2003, the Bureau of Police Research and Development had recommended the creation of "community policing" as a part of normal policing.

In the present context of growing cases of atrocities against women, it may be useful to turn to the support of the public in crime prevention and apprehension of criminals. The idea of community policing system became popular in the US since the 80s and has been adopted in Latin American countries. It is an attractive reformatory concept of policing in conformity with the current participatory approach in governance. But, the western system cannot be transplanted wholesale as our needs and purposes and more than that, our preparedness are different. We have to create an Indian model suited to our facilities and conditions.

First of all, community policing is a philosophy that promotes organisational strategies that promotes organisational strategies that use police-public partnership

in policing and adopts problem-solving techniques to address ground situations that give rise to crimes and threaten public safety. In the present Indian conditions, even when the police at the lower levels need to be educated on law, rights, and justice, such a partnership may not be feasible or desirable in many areas.

However, this philosophy, which shifts emphasis from statistics to problems, may be adopted to the extent that crimes are to be treated not in isolation and as incidents, but one in which they occur, and crime prevention should address the problems behind the crimes. This aspect of crime prevention can be efficacious if public participation is available to provide the inputs necessary to police functioning.

The mode of public participation is not to be restricted to individual participation though it is not ruled out. Police can obtain vast information from groups and organisations including schools, hospitals, temples and other places of worship, commercial places, etc., which attract people with different background. Systematic collection of data about an area and its residents and constant updation can be an essential part of community policing.

This will increase police-public contact and communication and lessen routine bureaucratic notings within the police hierarchy. This strategy is likely to transform policing which is presently a reactive force into a proactive one of problem-solving service.

Courtesy :- The Hitavada





Land Reforms & Duty Of State

Verify, The Land Belongs To Him Who Labours On It

• Sanjay Kumar Vishwakarma

Changes brought about in the agrarian structure through direct intervention are characterised as land reforms. It incorporates the changing of laws, regulations regarding land ownership. Land reforms are an attempt by the Government to achieve social equality and optimum utilization of land by redistributing the land holdings. These reforms are intended to eliminate exploitation and social injustice within the agrarian system, to provide security for the tiller of the soil and to remove obstacles arising from the agrarian structure that has been inherited from the past.

It is the scheme of the government wherein it redistributes the property, generally, of an agricultural land. Land reform, therefore, refer to transfer of ownership from the more powerful to the less powerful, such as from a relatively small number of wealthy (or noble) owners with extensive land holdings (e.g. plantations, large ranches, or agribusiness plots) to individual ownership by those who work the land. Such transfers of ownership may be done with or without compensation; compensation may vary from token amounts to the full value of the land. It implies that it is a transfer of ownership from the strong to weak such as from the owners with huge chunk of land who is relatively smaller in number to the individuals who actually work

on the land. And also while transferring compensation may not be necessarily given to the landlords and if it was given it varied from state to state.

At the time of independence, India inherited a semi-feudal agrarian system, wherein the ownership and control of land was vested in the hands of a small group of landlords and intermediaries whose main intention was to extract maximum rent, either in cash or kind, from tenants. Henceforth, a cultivator with no security of tenure and was required to pay a huge amount of revenue was least interested in investing in land. At the same time, neither was the landlord particularly concerned about improving the economic condition of the cultivators. As a result, agricultural productivity suffered and oppression of tenants resulted in a progressive deterioration of their plight. And therefore, the concept of land reforms came into practice.

System Of Land Tenure

At the time of Independence, land tenure system was quite unfavourable to the farmers. There were three types of land tenure systems prevailing in the country - Zamindari System, Mahalwari System and the Ryotwari System. The main distinction in these systems was regarding the payment of land revenue, that it deals with the entire revenue



jurisdiction that how it is to be paid, to whom it is to be paid.

Zamindari System

This system was introduced by East India Company in 1793, when Lord Cornwallis entered into 'permanent settlement' with landlords with a view to increasing the revenue of the Company. East India Company has entered into permanent settlement with landlords who had big chunk of lands, for the commercial gain that is to expand their business. Under the settlement, the landlords were declared full proprietors of large areas of land, thereby creating a permanent interest in the land and the task of collecting rent from the farmers was also entrusted to them for which they received a commission. With the passage of time these landlords became the intermediaries between the cultivators and the State.

The Zamindari System suffered from a number of defects. It conferred unlimited rights on the Zamindars to expropriate as much rent as they wished. It also entitled them to share the produce without participating personally in the productive process. The actual cultivator was left with no surplus to invest in better instruments and neither was there any extra incentive for him to increase agricultural production and productivity.

Mahalwari System

This system was introduced by William Bentick in Agra and Oudh. And later on it extended to Madhya Pradesh and Punjab. Under this system, the whole village was treated as one unit as far as payment of land revenue is concerned and it was the

responsibility of the village headman for collecting the land revenue. It implies that in certain areas where the landlords did not have chunk of land, whole village was treated as one unit and for each village revenue was required to be paid.

Ryotwari System

This system was not much into practice and was prevailing in very few parts of the country. Initially it was introduced in Tamil Nadu and later it was extended to Maharashtra, Barar, East Punjab, Assam, and Coorg. Here the responsibility of paying the land revenue was of the cultivator himself who was having the land and was required to pay to the Britishers. There were no intermediaries here between him and the state. The ryot was free to sub let his land and had full rights regarding sale, transfer and leasing of land and enjoyed permanent settlement that is he could not be evicted from the land as long as he paid the land revenue. Such kinds of rights were not given to the cultivators under the Zamindari system.

Objectives Of Land Reforms

Land reforms in the post independence period was basically introduced to restrict the exploiting measures taken by the intermediaries and to transfer the ownership of land to the cultivators. It also aims at providing security of Tenure, fixation of rents etc. Land Reform measures are aimed at alleviating rural poverty in the following manner:

- By taking possession of surplus land from the large land holders and distributing among the landless.



- By protecting the interests of tribals and preventing non-tribals to encroach upon the land of tribals.
- By facilitating them with the security of tenure and ownership rights to tenants and sharecroppers.

Measures Taken To Achieve The Objectives

Once the objectives were set, there was a need of some measures or policies with the help of which such objectives could be achieved. Some of the measures which were adopted to achieve the objectives were:

Abolition of intermediaries

As the main instrument of exploiting the cultivators or the landless were the landlords (or Zamindars) it was first required that they may be removed from the system. Approximately 57% of the country was under the Zamindari system on the eve of independence. Now since more than half of the country was covered under the Zamindari system, it became very much necessary to remove such intermediaries who were in between the State and the cultivators and were gaining undue advantage by charging huge amount of revenue from the cultivator.

As the cultivator who was actually paying was not even aware of, to whom it will be given, how much is to be given, the intermediaries extracted as much as they wished and paid only a part of it the Britishers and leaving nothing with the cultivators.

Keeping in view, all these legislations were passed in some of the states for their abolition before 1951. But it had to face many difficulties in its implementation like

Zamindars were not ready to surrender their rights over the property and so moved to the courts. When the Zamindars lost there they refused to hand over the land records. Despite these observations, one cannot deny the fact that after the independence, exploitation and oppression of tenants and actual tillers of the soil has declined steeply and the feudal rural structure has crumbled down.

Tenancy Reforms

Tenancy cultivation may be done by small proprietors or by the landless labourers. Tenants may be divided into three categories: (i) Occupancy Tenants (ii) Tenants-at-will (iii) Sub-Tenants.

Occupancy Tenants- occupancy tenants have permanent right like the owner. They also have the right to receive some compensation in case they make some improvements on land. They also enjoy security of tenure and do not fear of eviction as long as they pay rent on time. The only difference between the occupancy tenant and the proprietor is that the former is required to pay rent to the landlord and the latter to pay the land revenue to the state.

Tenants-at-will or Temporary tenants and Sub Tenants – the position of both of them is extremely weak. Their existence depends on the wish of landlords and so they are subject to ruthless exploitation.

Therefore, it is to protect these people that special laws have had to be enacted and implemented. So under these Tenancy reforms, the following measures were adopted: (i) Regulation of Rent (ii) Security



of Tenure and (iii) Conferment of ownership rights on tenants.

Regulation of Rent

The British government in the pre-Independence era was merely interested in its share and infinite powers were given to the Zamindars and as a result the rent charged by the Zamindars from the tenants was not in proportion to the actual agricultural production. So in order to subdue the evil practice performed by the Zamindars and regulate the limits of rents, legislation was enacted after 1947 in the form of First five year plan. As per the first five year plan the rent should be fixed at one-fourth or one-fifth of the total produce.

Security of Tenure

Sir Arthur Young rightly observed: "Give a man the secure possession of a bleak rock and he will turn it into a garden; give him a nine year's lease of a garden and he converts it into a desert." That is to say if a person is feared of losing the property he'll lose the interest in making any improvements on land and if he's given security of tenure he'll do his best to increase the productivity. In order to protect the tenants from ejection and grant them permanent rights in land, certain legislations have been passed in most of the states.

However, while framing the legislation three essential aims have to be kept in mind- Firstly large scale ejection of tenants do not take place; Secondly, that the resumption of land may be taken by the owner for personal cultivation only; and thirdly, that in the event of resumption, a prescribed minimum area is

left with the tenant.

Ownership right for tenants

Right of ownership to the tenants is a very important feature of land reform. As given by Mahatma Gandhi, "Verify, the land belongs to him who labours on it." Ownership rights should be given to the tenants, that is, they should be made owners of the land they cultivate. Earlier the right to purchase was optional to the tenants but because this did not prove to be effective, the Third Plan suggested for removal of the optional clause and the peasants be required to purchase land. Legislation for this purpose was enacted in various states. Redistribution of land- This was a common practice between 1947 and 1953. Under this scheme, the land was taken from the owners who had huge hectares of land and were given to the landless labourers. It was a grant given by the government to the landless cultivators. As according to the principle of Mahatma Gandhi, "Verify, the land belongs to him who labours on it". That is to say it was the cultivators who actually worked on the land and the owners solely took the huge profit. So this kind of scheme was developed by the government keeping in view the welfare of cultivators.

Consolidation of Holdings

This method was adopted to solve the problem of fragmentation of holdings. Under this process, one consolidated holding is granted to the farmer which is equal to the total of land in different scattered plots which are under his possession. The programme was initially started on a voluntary basis but



was later made compulsory. Majorly land consolidated has been practised in Punjab, Haryana, Maharashtra, Uttar Pradesh, Bihar and Orissa and only 15 states have passed this law of consolidation.

In the absence of such laws land can be subdivided and fragmented again on the basis of laws of inheritance, pressure of population etc. Certain minimum limit or the standard area has been fixed at different levels by different state governments keeping the above considerations in view. To ensure this certain provisions have been made in consolidation acts in Gujarat, Rajasthan etc. and in the land reforms act in Uttar Pradesh and West Bengal.

Cooperative farming

This reform was introduced to solve the problems which were created by sub division of holdings. It is where farmers having very petty lands join hands and pool their lands for the purpose of cultivation. 82% of the holdings in India are below 2 hectares and 39% of total operated area is under them and cultivation on such small farms is not profitable. If such small and marginal farmers cultivate their land jointly they can earn huge profits of large scale farming.

An Overview From The Constitutional Perspective

Although we have studied the measures been adopted by the state in lieu of the land reforms but we also need to understand some of the constitutional provisions relating to land reforms. Articles such as Article 39, 31A, 31B, 31C needs to be discussed on such view.

Article 39 talks about certain principles of policy to be followed by state. That the ownership and control of the material resources of the community are so distributed as best to sub-serve the common good, that is for the welfare of all and also that the operation of the economic system does not result in the concentration of wealth and means of production to the common detriment. That is to say, wealth or the land should not be vested with only few elite people.

Also after 42nd Amendment, clause of saving of certain laws was inserted. Article 31A has been brought only to abolish Zamindari System as it gives immense right to the state to acquire any estate for public purpose and so no intermediary is required and hence direct relation between the state and the intermediary was established.

Article 31B provides double protection with regard to any infringement of fundamental right. It saves conflict with any Fundamental right, that is to say if any provision in the ninth schedule shall be void if it infringes any of the Fundamental Rights and Article 31C gives state to frame policies with regard to Directive Principles of State Policy. It says notwithstanding anything contained in Article 13, any law giving made as per the policy of Directive principles of state shall be deemed to be void on the ground that it abridges away rights conferred by Article 14 or Article 19.

Conclusion

The objectives of land reforms were to bring about economic efficiency and social justice. Just like every issue has its pros and



cons, land reforms too have its positive and negative aspects. Land reform efforts have had some positive results, such as nearly 10 million hectares of land had been transferred under tenancy reform legislation as per 2002 records. Land reforms have had favourable effects on family income, asset growth, consumption and childhood education, especially in the states where the reforms were more vigorously implemented.

Although the contribution of tenancy reforms could not be totally neglected but the programs including these reforms did not lead into any significant redistribution of land, or the removal of all the obstacles to increasing agricultural production. Also land reforms did not fully achieve their objectives. The implementation efforts have slowed and the negative impact are outweighing the positive impact. By and large land reforms in India enacted so far and those contemplated in the near future... are in the right direction; and yet due to lack of implementation the actual results are far from satisfactory.

Land reform policies suffered from many defects such as - lack of political will, Apathy of Bureaucracy, Voluntary Surrender, retention of land for personal cultivation etc.

Lack of political will- which can be clearly seen as of the large gaps between law and its implementation.

Apathy of Bureaucracy- with the lack of political will goes the apathy of bureaucracy in implementing the land reforms, that is, the administrators has joined hands with the politicians to grab surplus land.

Voluntary surrender- where law did not help tenants if they surrendered their land on own accord.

Also intermediaries when allowed to resume large areas of land for cultivation, it was highly prone to misuse.

After studying all the positive and negative aspects of the land reforms, one question which is of utmost importance and need to be answered is that-Can the land reforms said to be success? Are the land reform policies actually meant for the deprived class? Or are these policies making poorer more miserable?

After sixty years of the introduction of the reforms if we say whatever we have achieved is a success, then on what basis are we calling it a success? The only area where any sort of development took place was in the case of abolition of intermediaries and the Zamindari system and if that is the only criteria of judging, then we really need to change our outlook. As this was definitely not what people wanted or for which the reforms were introduced.

If we want to accomplish the objectives of the land reforms then we must not stop here, there is still a long way to go. And we being the lawyers particularly, owe a greater sense of responsibility towards the society and must therefore strive for its success and justify the cause for which, in real sense such reforms were introduced.

Compiled by: Research Officer, MPHRC

source: www.legalserviceindia.com





Legal Aid: An Over View

An act to constitute legal services authorities to provide free and competent legal service to the weaker sections of the society to ensure that opportunities for securing justice are not denied to any citizens by reason of economic or other disabilities, and to organize Lok Adalats to secure that the operation of the legal system promotes justice on a basis of equal opportunity.

India is a developing country. The development in the industrial sector is very much appreciable, but still this progress in the field of industrialization, marketing, finance, etc. cannot hide the indispensable drawbacks of our society like population explosion and illiteracy. These drawbacks, coupled with environmental and social hinges results in increase in poverty and lack of food for people. It is true that the country is going through the phase of development but all the fruits of this tree are being encashed by those who stay in the upper half of the society. The poor resides in their own world of DARKNESS.

But those who are still neglected are the main foundation of the society that is to be remembered. So misusing their ignorance and encashing the fruits for the benefit of the upper half of our society is not at all good for the future of the country. The society is divided into two parts, according to financial standard, namely HAVES and the HAVE NOTS. In our country with 100 million people, only a little part of the population comes within the purview of the HAVES, whereas, the Lion's share is the HAVE NOTS. The HAVE NOTS as well as the HAVES both looks for earning

their livelihood, looking for the benefit of their family, giving a good future to the next generation, some are successful to it, some are not.

In this ways both categories of people spend most of their lives overlooking a lot of facts, intentionally or unintentionally, that a lot of wrongs are being done against them. Other people, or the Government or whoever may be is infringing their rights. But the wronged ones are not very eager to protest against the wrong doer. Even some times they are not knowledgeable enough that a wrong is being done against them.

If they do not know that a wrong is being done, it is a different scenario. But if they know about the fact, they are still not standing against it. As because, it may cause a lot of problem in their field of profession and might have to face a bigger loss. In this way they are actually ABATING THE WRONG.

So, for both the categories of people it is necessary to make them understand what sort of wrongs they actually are facing and the abatement is also causing a greater harm to the society and it can hamper the well being of their own next generation. Keeping this fact in the mind the Government has taken up policies to spread awareness to the common mass through organizing different programmes held by different authorities, governmental or non-governmental.

As the people of this country becomes aware about their legal rights, duties and liabilities they, themselves will understand how much better their lives can become. Spreading the awareness about the



rights of the people and how they are or can be infringed is the primary target of these authorities. So that the one who is wronged can himself realize that he has been wronged.

Once he has realized, that he has been wronged the question of redress arises. These authorities, governmental or non-governmental also provide the assistance, which is required by these wronged ones. These authorities provide HELP, in the legal field. This HELP is turned as LEGAL AID. These authorities and different other organizations hold such LEGAL AID CLINICS through the nation with the motto to help the VICTIMS.

Central Government has developed a plan and has also started to apply it by the help of the Legal Services Authorities, for this purpose. This authority spreads Legal Awareness amongst the citizens of our country, provides Legal Assistance like appointing advocates and giving advices to the people and also to suggest the Government different other plans relating this noble cause. These are the functions carried out by these organizations and authorities.

What Is Legal Aid?

Under Section 2(1)(c) of the Legal Services Authorities Act, 1987 (hereinafter referred to as 'the said Act'), "Legal Service" includes the rendering of any service in the conduct of any case or other legal proceeding before any court or other authority or tribunal and the giving of advice on any legal matter; To provide free and competent legal services to the weaker section of the society was the basic object of enacting the aforesaid Act. Justice - social, economic and political, is our constitutional pledge enshrined in the

preamble of our Constitution. The incorporation of Article 39-A in the Directive Principles of State Policy in the year 1976, enjoined upon the State to ensure justice on the basis of equal opportunity by providing free legal aid.

The assumption of our legal system is that all citizens have equal access to means of legal redress. Access to inexpensive and expeditious justice is a basic human right. But, in practice, legal services of all kinds have gone to the highest bidders. Wealthy persons and large corporations receive the highest quality advice. There should be a system of administration of justice of which the poorest are able to take advantage. Equal access to the law for the rich and the poor alike is essential for the maintenance of the rule of law. It is, therefore, essential to provide adequate legal advice and representation to all those, threatened as to their life, liberty, property or reputation, who are not able to pay for it.

Legal aid is required in many forms and at various stages, for obtaining guidance, for resolving disputes in Courts, tribunals or other authorities. It has manifold facets. The explosion in population, the vast changes brought about by scientific, technological and other developments, and the all round enlarged field of human activity reflected in modern society, and the consequent increase in litigation in Courts and other forums demand that the service of competent persons with expertise in law is required in many stages and at different forums or levels and should be made available.

Free legal aid undoubtedly is beneficial to poor people and has been instituted with the noble purpose. Yet it has become a good



ground for breeding corruption. Free legal aid for a fee is common practice. Once a lawyer is engaged through legal aid, obviously the party or his men would come to the lawyer for consultation and it is then that they are asked to fish out some money, which they naturally cannot refuse. One factor that largely contributes to this is that the meager remuneration (less than Rs. 200/-) paid to the lawyers by Legal Aid Committee is a paltry and sometimes even does not meet the incidental expenses, what to speak of compensating the labour put in by the lawyer.

Beyond that, the greed to pocket some easy money out of the helplessness of the victims is always there. But what speaks worst about the system is the fact that entrustment of cases under the scheme has become a case of distribution of largess amongst the favorites just as our Governments are notorious for distribution of licenses. The distribution is guided by many factors but largely other than by reason and the capacity to deliver the goods. In the circumstances, expectedly, the quality of aid is compromised to the detriment of the beneficiary and, of course, Justice. The whole purpose is, thus, defeated.

Concept Of Legal Aid

Legislative History - The right to assignment of counsel at Government expenses was emphasized in the 14th Law Commission Report. Thereafter, in 1969, the Law Commission again strongly recommended that the right of the accused to representation at the cost of Government should be placed on statutory footing in relation to trials for serious offences and as a first step in this direction, the Commission proposed that such a right should be available

in all trials before the Court of Session.

In order to achieve the objective enshrined in Article 39-A of the Constitution, Government had, with the object of providing free legal aid, by a Resolution appointed a Committee for implementing Legal Aid Scheme to monitor and implement Legal Aid Programmes on a uniform basis in all States and Union Territories. The said Committee evolved a model scheme which was accordingly implemented by the Government. But on review, certain deficiencies were found and it was considered desirable to constitute statutory legal authorities at National, State and district levels so as to provide effective monitoring of Legal Aid Programmes.

For the disposal of large number of cases expeditiously and without much cost Lok Adalats have been constituted and they have been functioning as a voluntary and conciliatory agency without any statutory backing for its decisions. In order to provide for the composition of statutory legal authorities and to provide statutory backing to Lok Adalats and its awards the Legal Services Authorities Bill, 1987, was introduced in the Lok Sabha on 24th August 1987.

Article 39-A of the Constitution provides that the State shall secure that the operation of the legal system promotes justice on a basis of equal opportunity, and shall, in particular, provide free legal aid, by suitable legislation or schemes or in any other way, to ensure that opportunities for securing justice are not denied to any citizen by reason of economic or other disabilities.

With the object of providing free legal aid, Government had, by Resolution, appointed



the “Committee for Implementing Legal Aid Schemes” (CILAS) under the Chairmanship of Mr. Justice P.N. Bhagwati (as he then was) to monitor and implement Legal Aid Programmes on a uniform basis in all the States and Union territories CILAS evolved a model scheme for Legal Aid Programme applicable throughout the country by which several Legal Aid and Advice Boards have been set up in the States and Union territories, cilas in funded wholly by grants from the central Government.

Object of the enactment of the said Act - In our democratic set-up, all laws are made for all men - common or uncommon. By common man, in common parlance, we understand a man on the street. A man who may not have any status, office, post or rank in society. He is only a human being, an ordinary citizen with expectations of a just and human order. He may be a Tom, Dick or Harry, Ram, Rahim or Shyam. The Expression includes a cobbler, sweeper, baker, butcher, a priest, or a soldier. A person of whatever name and nomenclature known in the society.

A legal system and its effectiveness has to be gauged or measured by the extent of its usefulness to the common man. The failure of law for common man is due to no change of hear or outlook of other fellow beings who are privileged and have a better status in the society. There has been no emotional integration between haves in the society and have nots. The society cannot be improved by laws. Social reforms are done not by laws but by leaders in the society who are virtuous, wise and of high moral character.

Before making the laws or along with them, no attempts have to be made on behalf of the State of their agencies to spread moral

education to encourage science with spirituality. The spirituality and science alone can rule the world including the government based on democracy in the absence of any effort in proper direction, the common man is deprived of the benefit of the laws enacted for him which do not reach him due to inefficient bureaucracy and mal-administration.

Persons Who Are Entitled To Get Free Legal Aid Under The Legal Services Authorities Act, 1987

Criteria for giving legal service are prescribed under the Section 12 of the said Act. Every person who has to file or defend a case shall be entitled to legal services under this Act if that person is –

- a. a member of a Scheduled Caste of Scheduled Tribe;
- b. a victim of trafficking in human beings or beggar as referred to in Article 23 of the Constitution;
- c. a women or a child;
- d. a person with disability as defined in Clause (i) of Section 2 of the person with Disabilities (Equal Opportunities, Protection of Rights and Full Participation)' Act, 1995
- e. a person under circumstances to the underserved want such as being a victim of mass disaster, ethnic violence, caste atrocity, flood, drought, earthquake or industrial disaster; or an industrial workman; or in custody, including custody in a protective home within the meaning of clause (g) of Section 2 of the Immoral Traffic (prevention) Act, 1956 (104 of 1956), or in a juvenile home within the meaning of clause (j) of Section



2 of the Juvenile Justice Act, 1986 (53 of 1986), or in a psychiatric hospital or psychiatric nursing home within the meaning of clause (g) of Section 2 of the Mental Health Act, 1987 (14 of 1987); or in receipt of annual income less than rupees nine thousand or such other higher amount as may be prescribed by the State Government, if the case is before a court other than the supreme Court, and less than rupees twelve thousand or such other higher amount as may be [prescribed by the Central Government, if the case is before the Supreme Court.

Also, there are factors for disqualification from getting legal aid - As per rules, the following persons are not entitled to the legal aid unless the Chairman of the Committee approves it as a special case-

- Proceedings wholly or partly in respect of defamation or malicious prosecution or any incidental proceedings thereto;
- A person charged with contempt of court proceeding or any incidental proceedings thereto;
- A person charged with perjury;
- Proceedings relating to any election.
- Proceedings in respect of offences where the fine imposed is not more than Rs. 50/-
- Proceedings in respect of economic offences and offences against social laws, such as, the protection of Civil Rights Act, 1955, and the Immoral Traffic (Prevention) Act, 1956 unless in such cases the aid is sought by the victim :
The legal aid is also denied where the person seeking the legal services –

- is concerned with the proceedings only in a representative or official capacity; or
(2) if a formal party to the proceedings, not materially concerned in the outcome of the proceedings and his interests are not likely to be prejudiced on account of the absence of proper representation.

In the above two circumstances even Chairman cannot sanction legal aid as a special case.

Constitutional Provisions Relating To Legal Aid

Legal aid a constitutional right - Articles 21 and 39-A of the Constitution are as under:-

“21. Protection of life and personal liberty – No person shall be deprived of his life or personal liberty except according to procedure established by law.

“39A. Equal justice and free legal aid - The state shall secure that the operation of the legal system promotes Justice on a basis, of equal opportunity, and shall in particular, provide free legal, aid, by suitable legislation or schemes or in any other way, to ensure that opportunities for securing Justice are not denied to any citizen by reason of economic or other disabilities”.

Article 21 is a fundamental right conferred under Part III of the Constitution. Whereas Article 39-A is one of the directive principles of the State Policy under Part IV of the Constitution. It has been held by the Constitution Bench of Supreme Court in Chandra Bhawan Boarding and Lodging, Bangalore V. –State of Mysore, AIR 1970 SC 2042 at 2050, para 13 that “While rights conferred under Part III are fundamental, the directives given under part IV are fundamental in the governance of the country.



There is no conflict on the whole between the provisions contained in Part III and Part IV. They are complementary and supplementary to each other.

Working Of The Legal Services Authorities In India – Frame Works, Functions Under The Legal Services Authorities Act, 1987 At Different Levels:

Functions of the Central Authority – According to Section 4 of the said Act, the Central Authority shall perform all or any of the following functions, namely :-

- lay down policies and principles for making legal services available under the provisions, of this Act;
- frame the most effective and economical schemes for the purpose of making legal services available under the provisions of this Act;
- utilize the funds at its disposal and make appropriate allocations of funds to the State Authorities and District Authorities;
- take necessary steps by way of social justice litigation with regard to consumer protection, environmental protection or any other matter of special concern to the weaker sections, of the society and for this purpose, give training to social workers in legal skills;
- organize legal aid camps, especially in rural areas, slums or labour colonies with the dual purpose of educating the weaker sections of the society as to their rights as well as encouraging the settlement of disputes through Lok Adalats;
- encourage the settlement of disputes by way of negotiation, arbitration and conciliation;
- undertake and promote research in the field of legal services with the special reference to the need for such services among the poor;
- to do all things necessary for the purpose of ensuring commitment to the fundamental duties of citizens under Part IVA of the Constitution;
- monitor and evaluate implementation of the legal aid programmes at periodic intervals and provide for independent evaluation of programmes and schemes implemented in whole or in part by funds provided under this Act;
- provide grants-in-aid for specific schemes to various voluntary social service institutions and the State and District Authorities, from out of the amounts placed at its disposal for the implementation of legal services schemes under the provisions of this Act’)
- develop, in consultation with the Bar Council of India, programmes for clinical legal educations and promote guidance and supervise the establishment and working of legal services clinics in universities, law colleges and other institutions;
- take appropriate measures for spreading legal literacy and legal awareness amongst the people and, in particular, to educate weaker sections of the society about the rights, benefits and privileges guaranteed by social welfare legislations and other enactments as well as administrative programmes and measures;
- make special efforts to enlist the support of the voluntary social welfare institution, working at the grass-root level,



particularly among the Scheduled Castes and the Scheduled Tribes, women and rural and urban labour; and

- co-ordinate and monitor the functioning of (State Authorities, District Authorities, Supreme Court Legal Services Committee, High court Legal Services Committees, Taluk Legal Services Committees and voluntary social service institutions) and other legal services organizations and give general directions for the proper implementations of the legal services programmes.

Under Section 5 of the said Act, the Central Authority is required to work in co-ordination with other agencies. In the discharge of its functions under this Act, the Central Authority shall, wherever appropriate, act in coordination with other governmental and non-governmental agencies, universities and other engaged in the work of promoting the cause of legal services to the poor.

Under Section 7 of the said Act, the Functions of the State Authority are prescribed which are as follows –

- It shall be the duty of the State Authority to give effect to the policy and directions of the Central Authority.

Without prejudice to the generality of the functions referred to in sub-section (1), the State Authority shall perform all or any of the following functions, namely:

- give legal services to persons who satisfy the criteria laid down under this Act;
- conduct (Lok Adalats including Lok Adalats for High Court cases) undertake preventive and strategic legal aid programmes; and perform such other

Under Section 8 of the said Act, the State Authority is required to act in co-ordination with other agencies etc., and be subject to directions given by the Central Authority - In the discharge of its functions the State Authority shall appropriately act in co-ordination with other governmental agencies, non-governmental voluntary social service institutions, universities and other bodies engaged in the work of promoting the cause of legal services to the poor and shall also be guided by such directions as the Central Authority may give to it in writing)

Under Section 10 of the said Act, Functions of the District Authority are –

- It shall be the duty of every District Authority to perform such of the functions of the State Authority in the District as may be delegated to it from time to time by the State Authority.
- Without prejudice to the generality of the functions referred to in sub-section (1), the District Authority may perform all or any of the following functions, namely:
- co-ordinate the activities of the Taluk Legal Services Committee and other Legal Services in the District);
- organize Lok Adalats within the District; and
- perform such other functions as the State Authority may fix by regulations.

Under Section 11 of the said Act, the District Authority is required to act in coordination with other agencies and be subject to directions given by the Central Authority, etc.- In the discharge of its functions under this Act, the District Authority shall, wherever, appropriate, act in coordination with other governmental and non-



governmental institutions, universities and other engaged in the work of promoting the cause of legal service to the poor and shall also be guided by such directions as the Central Authority or the State authority may give to it in writing.

Judicial Decisions

A. The Supreme Court in *Hussainara Kathoon V. Home Secretary, State of Bihar*, AIR 1979 SC 1369: 1980 [1] SC 98: 1979 [3] SCR 532: 1979 Cri LJ 1045 : 1980 SCC [Cr] 40, had called upon the Government to frame appropriate scheme for providing legal aid to the poor. The following observations were made by the Supreme Court:

“We may also take this opportunity of impressing upon the Government of India as also the State Governments, the urgent necessity of introducing a dynamic and comprehensive legal service programme with a view to reaching justice to the common man. Today, unfortunately, in our country the poor are priced out of the judicial system with the result that they are losing faith in the capacity of our legal system to being about changes in their life conditions and to deliver justice to them.

The poor in their contact with legal system have always been on the wrong side of the law. They have always come across ‘law for the poor’ rather than ‘law of the poor’. The law is regarded by them as something mysterious and forbidding—always taking something away from them and not as a positive and constructive social device for changing the socio-economic order and improving their life conditions by conferring rights and

benefits on them. The result is that the legal system has lost its credibility for the weaker sections of the community. It is, therefore, necessary that we should inject equal justice into legality and that can be done only by dynamic and activist scheme of legal services.

We also recall what was said by Leeman Abbot years ago in relation to affluent Americas. “If every a time shall come when in this city only the rich can enjoy law as a doubtful luxury, when the poor who need it most cannot have it, when only a golden key will unlock the door to the court-room, the seeds of revolution will be sown’ the fire-brand of revolution will be lighted and put in to the hands of men and they will almost be justified in the revolution which will follow”.

We would strongly recommend to the Government of India and the State Governments that it is high time that a comprehensive legal service programme is introduced in the country. That is not only a mandate of equal justice implicit in Article 14 and right to life and liberty confirmed by Article 21, but also the compulsion of the Constitutional directive embodied in **Article 39-A**

B. As pointed out by the Court in *Rhem – Vs- Malclm* [377 F. Supp. 1995] the State cannot be permitted to deny the constitutional right of speedy trial to the accused on the ground that the State has no adequate financial resources to incur the necessary expenditure needed for improving the administrative and judicial apparatus with a view to ensuring speedy trial. The State may have its financial constraints and its priorities in



expenditure, but, the law does not permit any Government to deprive its citizens of constitutional rights on a plea of poverty.

- C. In *Abdul Hassan Vs. Delhi Vidyut Board* [AIR 1999 Del 88: 1999 (77) DLT 640 : 1999 (2) AD (Del) 105 : : 1999 RLR 100 : 1999 (2) RCR (Civil) 291], the Delhi High Court observed that “it is emphasized in Article 39A that the legal system should be able to deliver justice expeditiously on the basis of equal opportunity and provide free legal aid to ensure that opportunities for securing justice are not denied to any citizen by reasons of economic or other disabilities. It was in this context that the parliament enacted Legal Services Authority Act, 1987.

One of the aims of the Act is to organize Lok Adalat to secure that the operation of legal system promotes justice on the basis of an equal opportunity. The provisions of the Act, based on indigenous concept are meant to supplement the court system. They will go a long way in resolving the dispute at almost no cost to the litigants and with minimum delay. The Act is a legislative attempt to decongest the courts of heavy burden of cases.”

- D. The Hon’ble Apex Court found and observed in the case of *State of Haryana v. Smt. Darshana Devi* [AIR 1979 SC 855 : 1979 [2] SCC 236: 1979 [3] SCR

184 : 81 Punj LR 472 : 1979 Ker LT 269 : 1979 UJ 389 : 1989 RLR : 1979 Rev LR 312 : 1979 ACJ 205 : 1979 Cur LJ [Civ] 343], no State, it seems, has, as yet, framed rules to give effect to the benignant provision of legal aid to the poor in Order XXXIII Rule 9-A, Civil Procedure Code, although several years have passed since the enactment. Parliament is stultified and the people are frustrated. Even after a law has been enacted for the benefit of the poor, the State does not bring into force by willful default in fulfilling the condition sine qua non. It is public duty of each great branch of Government to obey the rule of law and uphold the trust with the Constitution by making rules to effectuate legislation meant to help the poor.

- E. Also, as observed in *Moni Mathai v. Federal Bank Ltd.*, [AIR 2003 Ker 164 at 170] by the Kerala High Court, the Lok Adalats are also bound to follow the principles of natural justice, equity, fair play and other legal principles. Had the Committee taken care to issue notice to the petitioners and obtain a written statement containing their version and placed the same before the Lok Adalat all these unfortunate disputes could have been avoided. The Lok Adalats shall also not forget that their duty is not to dispose of cases some how but settle cases amicably.

Compiled by : Research Officer, MPHRC

Source : www.legelserviceindia.com

